हिन्दू देव परिवार का विकास

मित्र प्रकाशन गौरव ग्रंथ माला—८

हिन्दू देव परिवार का विकास

डा० सम्पूर्णानन्द

मित्र प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद

प्रकाशक

मित्र प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड,

इलाहाबाद।

मूल्य

छः रुपए पचास पैसे

१९६४

मुद्रक

धीरेन्द्रनाथ घोष

माया प्रेस प्राइवेट लिमिटेड,

इलाहाबाद।

प्रकाशकीय

डा० सम्पूर्णानन्द कृत 'हिन्दू देव परिवार का विकास' पाठकों की सेवा में प्रस्तुत है। भारतीय साहित्य में यह ग्रंथ अपने ढंग का सर्वथा अनूठा और अद्वितीय है। सम्भवत किसी भी भारतीय अथवा विदेशी भाषा में ऐसा ग्रंथ इसके पहिले नहीं लिखा गया।

डा० सम्पूर्णानन्द के शब्दों में—"मैंने एक लम्बी कहानी को अल्पाक्षरों में, संक्षेप में, बाँधने का प्रयत्न किया है।" और विद्वान् लेखक को इस प्रयत्न में अद्भुत सफलता मिली है। ऐसे कठिन विषय को, इतने संक्षेप में, इतने रोचक ढंग से प्रस्तुत कर सकना डा० सम्पूर्णानन्द जी जैसे अधिकारी विद्वान् का ही काम था।

इस ग्रंथ को पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करते हुए मित्र प्रकाशन को विशेष गौरव का अनुभव हो रहा है। इस ग्रंथ की उपयोगिता स्वयंसिद्ध है। भारतीय संस्कृति एवं धार्मिक विश्वासों के विकास का क्रमिक अध्ययन-अनुशीलन करने वाले अध्येताओं, स्नातकों और शोध छात्रों को तो इस ग्रंथ से सहायता मिलेगी ही, सामान्य पाठक भी इससे अवश्य ही लाभान्वित होंगे।

'भूमिका' में विद्वान् लेखक ने 'आर्यों' के सम्बन्ध में विशद अनुशीलन प्रस्तुत करते हुए बतलाया है कि वे कौन थे, उनकी विशेषता क्या थी, उनकी पहिचान क्या थी। "अब तक जो कुछ अध्ययन हो सका है, उससे यही प्रतीत होता है कि वे लोग किसी पृथक् और विशेष उपजाति के थे, इसका कोई प्रमाण नहीं है। परन्तु निश्चय ही वे ऐसे लोग थे जिनको भौगोलिक कारणों ने एक साथ डाल दिया था। इस प्रकार उनमें कुछ विशेष

विश्वासों का, रहन-सहन के प्रकारों का, उदय हुआ था। उनमे एक विशेष प्रकार की संस्कृति का जन्म हुआ था और विशेष प्रकार की भाषा भी बोली जाने लगी थी। वस्तुत. जिसे आर्य्यों का इतिहास कहते है, वह उस विशेष प्रकार की संस्कृति का इतिहास है जिसका उन लोगों से सम्बन्ध था जो अपने को आर्य्य कहते थे।"

ये आर्य्य किसी न किसी रूप मे इन्द्र, वरुण, मरुत्, सूर्य आदि अपने देवो की पूजा-वन्दना अवश्य करते थे। डा० सम्पूर्णानन्द के शब्दों मे, "यह स्पष्ट ही है कि वेद मे देव शब्द और चाहे जिन अर्थो मे आया हो, परन्तु उसमे किन्ही विशेष प्रकार के व्यक्तियों को भी अभिलक्षित किया गया है जो मनुष्यो से भिन्न है। इसी प्रकार इन्द्र आदि शब्दों का प्रयोग भले ही परमात्मा के लिए किया गया हो, परन्तु वह केवल यौगिक शब्द नही है। उनके द्वारा किन्ही ऐसे व्यक्ति विशेषों की ओर संकेत किया गया है जिनको देव कहा गया है।"

इसी देव परिवार के विकास का क्रमिक, शृंखलाबद्ध अध्ययन प्रस्तुत पुस्तक मे किया गया है। ये देव कौन थे ? इनकी महत्ता क्या थी ? विशिष्टता क्या थी ? क्या देवों की तुलना 'फरिश्तो' अथवा 'एंजिलो' से की जा सकती है ? देवगण न फ़रिश्ते हैं, न एंजिल। "देवगण वस्तुतः और जीवों से भिन्न नहीं हैं। केवल अपने तप के द्वारा उन्होंने अपने को ऊँचे पद पर पहुँचाया है। वह पद नित्य नही हैं। देवत्व मोक्ष से नीचा है। देवत्व का अन्त होने पर कुछ देवगण जिन्होंने अपने देवत्व काल मे विशेष साधना की है, मुक्त हो जायेंगे। शेष को फिर जन्म लेना होगा। ऐसे ही देवों को आजान देव या साध्य देव कहते है। कुछ काल के लिए, सत्कर्म के बल पर, दूसरे मनुष्य भी देवत्व प्राप्त कर लेते हैं, उनको कर्म देव कहते है। उपासना साध्य देवों की ही की जाती है।......मुख्यतया यही लोग आर्य्यों के उपास्य थे और उन्ही की सूची मे काल पाकर परिवर्तन हुए। उसी परिवर्तन को इस पुस्तक मे विकास की संज्ञा दी गयी है।"

जिस क्रम से देव परिवार के विकास का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है, वह यह है—वेद, देव शब्द के विषय मे भ्रान्त धारणाएँ, देव और देवता, साध्य देव, वैदिक देव परिवार, पौराणिक काल की भूमिका, पुराण, देव परिवार मे भारी

परिवतन, पौराणिव काल की कुछ मौलिक प्रवृत्तियाँ, कुछ अवैदिक प्रवृत्तियाँ, वैदिक से हिन्दू, परतत्र भारत मे हिन्दू धम और वतमान काल।

देव परिवार के विकासक्रम के अनुशीलन के साथ-साथ हमारे सास्कृतिक इतिहास के विभिन्न मोडो और अवसरो पर जन समाज मे प्रचलित मान्यताओ, आस्थाओ और विश्वासो के सम्बन्ध मे भी डा० सम्पूर्णानन्द जी ने जो मत व्यक्त किए हैं, वे विचारोत्तेजक हैं और वे हमे अनक स्वीकृत धारणाओ और मान्यताओ को वदलने के लिए प्रेरित करते हैं।

डा० सम्पूर्णानन्द जी ने पुस्तक का उपसहार करते हुए कहा है, "मैं नही कह सकता कि भविष्य मे उपासना का क्या रूप होगा। इतना तो विश्वास होता है कि आगामी काल का हिन्दू दुबलता के ऊपर उठ चुका होगा। वह अपने उपास्य के सामने भिक्षुक के समान हाथ बाँध कर खडा न होगा।

वह यह शिक्षा ग्रहण कर चुका होगा कि स्वाथभाव विनाश का साधन है। मनुष्य मात्र के कल्याण मे अपना भी कल्याण है। त्याग ही भोग का हेतु है, कत्तव्य ही मनुष्य का धम है, अधिकारो के पीछे दौडना माया मृग का पीछा करना है। ऐसे मनुष्य का आचरण देवगण को भी अभिमुख करगा, उनका भी सख्य और उनकी भी सहायता प्राप्त होगी और वह न केवल अपने जीवन को साथक कर सकेगा, परतु वेद की इस आज्ञा का भी पालन कर सकेगा —कृणुध्वम् विश्वमाय्र्यम्।"

अपनी इस कृति मे डा० सम्पूर्णानन्द ने वैदिक, औपनिषदिक और पौराणिक परम्पराओ का जैसा गम्भीर विश्लेषण प्रस्तुत किया है और जिस वैज्ञानिक दृष्टि से इस सम्पूण परपरा की छानबीन की है, वह निश्चय ही प्रेरणादायी है।

'हिन्दू देव परिवार का विकास' नामक इस पुस्तक का हर सस्कृति प्रेमी परिवार मे होना अनिवाय है।

जहाँ तक हो सका है, हमने पुस्तक को शुद्ध रूप में प्रकाशित करने का प्रयास किया है। फिर भी, सम्भव है कि कहीं प्रूफ सम्बन्धी कोई त्रुटि रह गयी हो। अब तो उसका संशोधन अगले संस्करण में ही हो सकेगा।

हम पाठक समाज के सामने हर्ष और गर्व के साथ यह महत्त्वपूर्ण ग्रंथ प्रस्तुत कर रहे हैं।

श्रीकृष्ण दास
अध्यक्ष
पुस्तक विभाग

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रम्,

हवे हवे सुहवे शूरमिन्द्रम् ।

ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रम्,

स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्र ॥

प्राक्कथन

लगभग एक वर्ष हुए मैंने भारतीय विद्या भवन के तत्वावधान में बम्बई में तीन व्याख्यान दिये थे। व्याख्यानमाला की भाषा अँग्रेजी थी और उसका विषय था 'ईवोल्यूशन आव दि हिन्दू पैंथियन'—हिंदू देव परिवार का विस्तार।

कई मित्रों ने आग्रह किया कि उन व्याख्यानों में जो विचार व्यक्त किये गये थे उन्हें पाठकों के समक्ष लाया जाय। प्रस्तुत पुस्तक उसी आग्रह का पालन कर रही है। इसमें व्याख्यानों की अपेक्षा विस्तृत विवेचन है। फिर भी मैं जानता हूँ कि ऐसे गम्भीर और महत्त्वपूर्ण विषय पर जो लिखा जाना चाहिए उसकी दृष्टि से बहुत कम लिखा गया है।

पुस्तक में स्थान स्थान पर ऋग्वेद के मंत्र उद्धृत हैं। उनके साथ दी हुई संख्याओं में पहिला अंक मंडल, दूसरा सूक्त और तीसरा मंत्र के स्थान का सूचक है। जैसे, ३, ५, १४ का अर्थ हुआ ऋग्वेद के तीसरे मंडल के पाँचवें सूक्त का चौदहवाँ मंत्र।

जयपुर, मार्ग० शु० १४, २०२०

—सम्पूर्णानन्द

विषय-सूची

प्रथम खंड—वैदिक काल

द्वितीय खंड—पौराणिक काल

तृतीय खंड—पुराणोत्तर काल

सप्तसिन्धव

भूमिका

आने वाले अध्यायों में मैंने एक लम्बी कहानी को अल्पाक्षरों में, संक्षेप में, बाधने का प्रयत्न किया है। प्रयत्न सफल हुआ हो या न हुआ हो, परन्तु प्रयास करने में ही बहुत सी ऐसी बातों को छोड देना पडा जो निश्चय ही विषय से सम्बद्ध थीं। उनके समावेश से पुस्तक की रोचकता बढती। कहाँ तक कहानी के मूल सूत्र की रक्षा हो सकी, यह कहना भी कठिन है।

ऐसे विषय के प्रतिपादन में पद पद कठिनाइयों का सामना करना होता है। पुस्तक का नाम है 'हिंदू देव परिवार का विकास।' यहीं से कठिनाइयों का श्रीगणेश होता है। हिंदू के स्थान में आर्य्य शब्द रखा जा सकता है। आरम्भ में इस शब्द का व्यवहार किया भी गया है परन्तु आर्य्य किसको कहते हैं या कहते थे? जो लोग आर्य्य कहे जाते थे, या यों कहिए कि अपने को आर्य्य कहते थे, उनकी क्या विशेषता थी, क्या पहिचान थी? साधारण बोलचाल में आर्य्यों को एक जाति मानने का चलन है, परन्तु जाति किसको कहते हैं? न्याय के आचार्य्यों ने कहा है

समानप्रसवात्मिका जाति

जिन लोगों का प्रसव, जन्म, एक सा हो उनकी जाति एक है। हम बहुत दूर न जायँ, पर यह तो प्रत्यक्ष का विषय है कि सभी जरायुजों का, अर्थात् माँ के दूध पीनेवालों का, प्रसव एक सा होता है। गर्भ में आने से लेकर जन्म लेने तक की प्रक्रिया एक सी होती है। इस दृष्टि से चूहा, बिल्ली, व्याघ्र, मनुष्य—सब एक जाति के हैं। स्पष्ट ही इस परिभाषा को मानकर तो आर्य्यों के सम्बन्ध में कुछ कहा नहीं जा सकेगा। प्राणिशास्त्र समान जातित्व की एक संकीर्ण कसौटी बनाता है। दो प्राणी एक जाति के हैं या नहीं इसको परखने के लिए यह देखना चाहिए कि उनमें यौन सम्बन्ध हो सकता है या नहीं।

यदि हो सकता है तो संतान होती है या नही और फिर संतानकी संतान होती है या नही। यदि ऐसा होता है तो दोनो की जाति एक है। इस परख के अनुसार सभी घोड़ो की जाति एक है। परन्तु घोड़ो और गदहो की जाति भिन्न है क्योंकि यद्यपि घोड़ों और गदहो के यौन सम्बन्ध से सन्तति होती है परन्तु खच्चर को कोई संतान नही होती। इस कसौटी के अनुसार मनुष्यमात्र की एक जाति है। भाषा और सम्प्रदाय को भी कसौटी नही माना जा सकता। करोड़ो व्यक्ति जो एक दूसरे से हर बात मे भिन्न है और अपने को भिन्न जाति मानते है एक ही भाषा बोलते हैं। एक ही धर्म के माननेवालो मे ऐसे व्यक्ति होते हैं जो कदापि अपने को समानजातीय नही कह सकते।

एक परख ऐसी है जो कुछ दूर तक संतोषजनक प्रतीत होती है। मनुष्य प्राय दो प्रकार के होते है: लम्बे सिर वाले और गोल सिर वाले। इसी प्रकार शरीर के कुछ दूसरे अवयवो मे भी आलेख्य भेद होता है। कुछ लोगो के शरीर का रग पीलापन लिए होता है, उनकी आँखे कुछ तिरछी होती है और गाल की हड्डी उभरी हुई। कुछ लोगोंके बाल ऊन जैसे नरम होते है और होठ उभरे हुए होते हैं। अब यदि एक विशेष प्रकार का सिर विशेष प्रकार के गाल की हड्डी, विशेष प्रकार के बाल और विशेष प्रकार की आँखों के साथ सदैव पाया जाय तो मनुष्यो को बड़ी सुगमता से वर्गीकृत किया जा सकता है। इस प्रकार के भेदो के आधार पर मनुष्य जाति को निश्चित उपजातियों मे बाँटा जा सकता है। परन्तु दुर्भाग्य से यह बात भी नही होती। इन अवयवों का कोई स्थिर और नित्य सम्बन्ध देख नही पड़ता। किसी प्रकार के सिर के साथ किसी प्रकार की आँख, किसी प्रकार के बालो के साथ किसी प्रकार के गाल की हड्डी मिलती है। सम्भव है कभी आज से कई लाख वर्ष पहिले किसी एक प्रकार की उपजाति के मनुष्य किसी एक विशिष्ट भूखड मे रहते हो, परन्तु आज वह बात नही है। सच तो यह है कि आज से कई हजार वर्ष पूर्व मनुष्यो के पाँव मे जैसे शनि ने अड्डा जमा लिया था, एक देश छोड़कर दूसरे देश मे जाना साधारण सी बात हो गयी थी। आज तो देशान्तर यात्रा पर बहुत से सरकारी प्रतिबन्ध होते है। प्राचीनकाल मे कोई रोकटोक नही थी। दृढ़ संकल्प और बाहु मे बल होना चाहिए था। जो जहाँ चाहे जाकर बस जाय। इस प्रकार निरन्तर चलते रहने का परिणाम यह हुआ कि यदि कभी पृथक्

उपजातियाँ थी भी तो सब एक दूसरे से मिलजुल गयी। आज मनुष्य मात्र सकर है, कोई शुद्ध उपजाति नही है। आर्य नाम की किसी शुद्ध निश्चित गुणा से सम्पन्न उपजाति का यही पता नही चलता। इन बाता के आधार पर विचार करने से तो सभी मनुष्य एक हैं, पृथक मानने का कोई पुष्ट हेतु नही मिल सकता। परन्तु एक बात प्राचीन काल से चली आ रही है। पार्थक्य भाव के उत्पन्न करने और बढाने वाले तत्त्व भी रहे हैं। पृथ्वी विशाल थी। मनुष्यो की सख्या बहुत कम थी। इसलिए बस्तियाँ बहुधा एक दूसरे से दूर पड जाती थीं। एक ही जगह कुछ शतियो तक एक साथ रहनेवाला मे भौगोलिक कारणा से कुछ विशेषतायें आ जाती थी। इनकी अलग-अलग अपनी वीर गाथायें और उपासना नालियाँ बन जाती थी। रहन सहन का ढग अलग हो जाता था। यह भाव उत्पन्न हो जाता था कि हम एक हैं। कभी कभी ऐसी भी कथायें प्रचलित हा जाती थी कि इम हम एक ही पूवज या पूवजा की सतान है। पुरा काल के उनके योद्धा और नता पूवज रूप से मान्यता पाने लगते थे। आरम्भ में चाहे बोलियाँ अलग अलग भी रही हा परन्तु कुछ काल म मिलजुल कर एक बोली, एक भाषा, बन जाती थी। यदि उन लोगो मे कुछ लोग बहुत पहिले विजेता बनकर आये थे ता इस बात की बहुत बडी सम्भावना थी कि उनकी ही भाषा और उपासना शैली को प्रधानता मिली हागी, यद्यपि जो विजित रहा होगा उसकी भाषा और उपासना पद्धति मे भी निश्चय ही सम्मिश्रण हुआ होगा। इस प्रकार ऐसे लागा की अपनी एक अलग सस्कृति का बन जाना स्वाभाविक था। यदि इस प्रकार के कई समुदाय बन गय हा ता वह एक दूसरे से पृथक् भी हाने और साथ ही उनकी सस्कृतिया मे साम्य भी होगा। प्रत्येक समुदाय अपने का पृथक नाम मे पुकारता होगा, परन्तु अपनी साम्य की अनुभूति भी उनको निश्चय ही रही होगी। भेद और साम्य के इस प्रकार के उदाहरण किसी न किसी रूप मे आज भी मिलते हैं। सिसोदिया, राठौर, चौहान, परमार आदि कई बाता म एक दूसरे से भिन्न हैं परन्तु किन्ही बातो के आधार पर सब अपने का राजपूत कहते हैं।

अब तक जो कुछ अध्ययन हो सका है उससे यही प्रतीत होता है कि आर्यों का भी कुछ इसी प्रकार का समुदाय था। वह लाग किसी पृथक्

और विशेष उपजाति के थे इसका कोई प्रमाण नहीं है। परन्तु निश्चय ही वे ऐसे लोग थे जिनको भौगोलिक कारणो ने एक साथ डाल दिया था। इस प्रकार उनमे कुछ विशेष विश्वासों का, रहन सहन के प्रकारो का, उदय हुआ था। उनमे एक विशेष प्रकार की संस्कृति का जन्म हुआ था और विशेष प्रकार की भाषा भी बोली जाने लगी थी। वस्तुत. जिसे आर्य्यों का इतिहास कहते है वह उस विशेष प्रकार की सस्कृति का इतिहास है जिसका उन लोगो से सम्बन्ध था जो अपने को आर्य्य कहते थे।

एक बात और ध्यान मे रखने की है। मैंने आर्य्य सस्कृति की चर्चा किया है। परन्तु सभी आर्य्यों की संस्कृति एक समान थी ऐसा नहीं माना जा सकता। अलग अलग समुदाय थे, वे अलग अलग समयो मे अलग अलग दिशाओ मे गये। इसलिए उनकी संस्कृतियो मे थोड़ा बहुत अन्तर आ जाना स्वाभाविक था। इसके अतिरिक्त सभी आर्य्य बस्तियो मे नही रहते थे। कुछ ऐसे भी थे जिनको पुरानी किताबों मे व्रात्य कहा गया है। ये लोग नगरवासी आर्य्यों से भिन्न प्रकार का वस्त्र पहिनते थे, खेती बारी नही करते थे, मुख्य रूप से पशु पालन और कभी कभी लूटपाट का भी व्यवसाय करते थे। एक स्थान पर टिक कर रहते भी नही थे। इनकी बोली भी बस्तियो मे रहने वालों की अपेक्षा असस्कृत हुआ करती थी। पुरानी पुस्तकों में इसके उदाहरण भी मिलते है, जैसे अरयः (शत्रुओ) के लिए अलवः बोलना। क्रमशः ये लोग भी बस्तियों मे रहने वालों मे आ मिले। परन्तु बहुत दिनो तक पृथक् रहने के कारण इनमें जो विशेषतायें आ गई होंगी उनका प्रभाव मूल आर्य्य सस्कृति पर निश्चय ही पडा होगा। मैं आशा करता हूँ कि इस विवेचन से यह बात स्पष्ट हो गई होगी कि हम आर्य्य शब्द का व्यवहार किस अर्थ मे करते है। बहुत प्राचीन काल मे कुछ लोग थे जो अपने को आर्य्य कहते थे। उनमे शरीर आदि की दृष्टि से कोई ऐसी विशेषता नही थी जो उनको दूसरे मनुष्यो से पृथक् करती। परन्तु उनमे एक विशेष प्रकार की संस्कृति का उदय हुआ था।

'सस्कृति' शब्द की परिभाषा करना बहुत कठिन है। परन्तु यो कह सकते है कि किसी समुदाय का जीवन सम्बन्धी समस्याओं के प्रति जो विशेष दृष्टि-कोण होता है उसे उस समुदाय की संस्कृति या सस्कृति का सार कह सकते

हैं। यह दृष्टिकोण, यह संस्कृति, उस समुदाय के साहित्य, उसकी चित्रकला, उसकी उपासना शैली और उसकी दार्शनिक प्रवृत्ति के द्वारा अपने को अवगत कराती है। यदि आर्य्य लोगों की कोई विशेष संस्कृति थी तो अपने उपास्यों के प्रति उनकी जो भावना थी उसमें भी उसका प्रकट होना अनिवार्य था। वह भावना क्या थी, इस बात का विवेचन पुस्तक के प्रथम खंड में किया गया है।

इस कथा का आरम्भ हुआ तो आर्य्यों के समुदाय में, परन्तु यह जानने की उत्सुकता भी स्वाभाविक है कि कहानी कब प्रारम्भ हुई? जिस देव परिवार का यहाँ चर्चा है उसे आर्य्यों ने कब अपनाया? ऐसे परिवार के प्रति जिस भावना का संकेत किया गया है उसका उदय कब हुआ? जहाँ तक मैं जानता हूँ इन प्रश्नों का उत्तर कोई नहीं दे सकता। कम से कम मैं तो नहीं दे सकता।

आर्य्य लोग तो अपना कोई लिखित इतिहास छोड़ नहीं गये हैं। उनके इतिहास की जानकारी दो दिशाओं से मिलती है। एक तो मुख्यतः ऋग्वेद है। यह संसार की सबसे पुरानी पुस्तक है और आर्य्य लोगों की सबसे प्रामाणिक सर्वमान्य, मूर्धन्य धर्म पुस्तक है। इतिहास ग्रन्थ न होते हुए भी इससे आर्य्यों के जीवन पर बहुत बड़ा प्रकाश पड़ता है। इसके अतिरिक्त पश्चिमी एशिया के इतिहास में भी आर्य्यों के सम्बन्ध में कुछ न कुछ सामग्री मिलती है। पश्चिमी एशिया का इतिहास भी विस्तृत रूप से कहीं नहीं मिलता। इसका कुछ फुटकर चर्चा बाइबिल में है। कुछ मिस्र के इतिहास में है और कुछ पकाई हुई ईंटों पर खुदी हुई उन पुस्तकों में है जो उन नरेशों के कार्यों का विवरण देती हैं जो किसी समय यहाँ राज्य करते थे।

अब यदि हम वेद को लेते हैं तो यह तो सब मानते हैं कि वेद में आर्य्य जीवन का वर्णन है। परन्तु यह विवरण कितना पुराना है इस प्रश्न का संतोषजनक उत्तर अब तक नहीं मिला। यदि किसी आस्तिक संस्कृत विद्वान से पूछिये तो वह यही कहेगा कि वेद अनादि है। ऐसा मानते हैं कि यह ब्रह्मा की आयु के श्वेतवाराह कल्प का २८वाँ कलियुग है। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि इसी कल्प में सृष्टि का आरम्भ माना जाय तो उनको १२,०५,३३,००० वर्ष हुए। इसी के लगभग वेद का अवतरण हुआ होगा।

श्रद्धा की दूसरी बात है, परन्तु वैज्ञानिक ढंग से विचार करने से इन संख्या से कोई सहायता नहीं मिलती। पाश्चात्य विद्वानों का यह कहना रहा है कि ऋग्वेद काल ईसा पूर्व १५ सौ से लेकर १ हजार वर्ष तक था अर्थात् वेदमंत्र आज से लगभग ३५ सौ वर्ष से अधिक पुराने नहीं है। वेदों का गहरा अध्ययन करने के बाद और आधुनिक ज्योतिष शास्त्र की बातों से मिलाने के बाद लोकमान्य तिलक इस परिणाम पर पहुंचे कि वेद आज से १० हजार वर्ष पहिले के काल का साक्ष्य देता है। उस समय वसन्तसंपात जो आजकल उत्तरभाद्रपद नक्षत्र में होता है मृगशिरा में हुआ करता था। इस बात की ध्वनि भवगत्गीता के उस श्लोक में भी मिलती है :

मासानाम् मार्गशीर्षोऽहम्, ऋतूनाम कुसुमाकरः

ऋग्वेद के मंत्र ठीक अपने वर्तमान रूप में १० हजार वर्ष पहिले न रहे हों, सब मंत्र भी उतने पुराने नहीं होंगे, परन्तु उतने पुराने समय की स्मृति आर्य्यों को थी और ऋग्वेद उधर संकेत करता है। यदि तिलक की बात ठीक है तो ऋग्वेद आज से १० हजार वर्ष पहिले के आर्य्य जगत् का चित्र दिखलाता है। कुछ विद्वान् इससे भी आगे जाते है। ऋग्वेद के दशम् मंडल में यह मंत्र आया है :

सूर्याया वहतुः प्रागात्, सविता यमवासृजत्।
अघासु हन्यन्ते गावो, अर्जुन्यो. पर्युह्यते.।

'सूर्य्य ने अपनी लड़की सूर्य्या के विवाह में जो दहेज की सामग्री दी वह आगे चली। गाड़ी के बैलों को अघा (मघा) नक्षत्र में मारना पड़ा। अर्जुनी (फाल्गुनी) में गाड़ी तेजी से चली।' साधारणत. इस मंत्र का कोई अर्थ नहीं लगता। परन्तु विद्वानों ने दिखलाया है कि एक समय सूर्य्य की दक्षिणायन गति मघा नक्षत्र में समाप्त होती थी। यह बात आजकल २४ दिसम्बर को मूल नक्षत्र में होती है। मघा नक्षत्र में सूर्य्य अगस्त मास से होता है। उन दिनों पूर्वा फाल्गुनी से सूर्य्य तेजी के साथ उत्तरायण चलने लगता था। यह दृग्विषय आज से १७ हजार वर्ष पुराना है। यदि यह अर्थ ठीक है तो ऋग्वेद १७ हजार वर्ष पहिले की ओर संकेत करता है।

वेद के कुछ ऐसे अंश हैं जिनको पाश्चात्य विद्वान् औरों से अधिक प्राचीन मानते हैं। भारतीय विद्वान् तो उनको प्राचीन मानते ही हैं। स्वभावतः ऐसे ही मन्त्रों से जिनकी प्राचीनता सर्वमान्य है आर्यों के इतिहास पर प्रकाश ढूंढा जाता है। इन मन्त्रों में जहां और बातें हैं वहां कुछ वैदिक देवों जैसे इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, मरुत् और अश्विद्वय के नाम भी आते हैं। इससे इतना तो स्पष्ट है ही कि जिस काल से इन मन्त्रों का सम्बन्ध है उसमें इन देवों की उपासना होती थी। सम्भावना यही है कि उपासना मन्त्रों से पहिले से चली आती होगी। परन्तु वह काल कौन सा था, यह पता कठिन हो रहा है। जहां किसी के मत में वेद मन्त्रों की गति ३५ सौ वर्षों से पीछे नहीं जाती वहाँ कोई दूसरा विद्वान् उनमें १० सहस्र वर्ष पूर्व की झलक देखता है और किसी दूसरे के मत में उनमें १५ हजार वर्ष पूर्व का संकेत मिलता है। इसलिए हमको यह देखना होगा कि अन्य दिशाओं से इस विषय पर क्या सामग्री उपलब्ध होती है।

पारसियों के ग्रंथ अवेस्ता के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि किसी समय वैदिक आर्यों और पारसियों के पूर्वजों का एक ही समुदाय था। अवेस्ता की भाषा वैदिक संस्कृत से बहुत मिलती है। उसमें कई उपास्यों के नामों में भी समता है। सूर्य और अग्नि समान रूप से उभयत्र पूज्य हैं। वैवस्वत् यम विवनघत् यिम के नाम से विद्यमान हैं, परन्तु दो बहुत बड़े अन्तर हैं। एक तो अवेस्ता में इन्द्र के लिए स्थान नहीं है। वृत्रघ्न जो वेद में इन्द्र की एक उपाधि है वेरेथ्रघ्न के रूप में मिलता है। परन्तु इन्द्र की वहाँ उपासना नहीं है। दूसरी ओर वेद में कई जगह ऐसे लोगों का चर्चा है जो इन्द्र की उपासना के विरुद्ध थे। अनिन्द्र कहकर उनकी घोर निन्दा की गई। इससे विद्वज्जन इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि किसी समय उस पुराने समुदाय में कोई घोर धार्मिक युद्ध हुआ होगा। इन्द्र को सर्वोपरि माना जाय या नहीं, सम्भवतः इस बात को लेकर संघर्ष छिड़ा होगा और यहाँ तक बढ़ा होगा कि दोनों दल एक दूसरे से पृथक् हो गये। एक दल ने देश ही छोड़ दिया। इसी दल के वंशज ईरान के पारसी हुए। अवेस्ता और वेद की मान्यताओं में एक और अन्तर है। वैदिक मत के अनुसार देव पूज्य होते हैं और असुर निन्दास्पद। अवेस्ता इससे ठीक उलटी बात कहता है। उसके अनुसार असुर

पूज्य होते हैं और देव निन्द्य। सम्भवतः यह भी उसी पुराने धार्मिक युद्ध का परिणाम होगा।

यदि वैदिक और पारसी आर्य्यों के पृथक् होनेवाली बात की कल्पना ठीक हो और इस बात का निश्चित रूप से पता चल सके कि यह संघर्ष कब हुआ अर्थात् आर्य्य समुदाय कब दो दलों में विभक्त हुआ तो स्यात् पुराने इतिहास पर कुछ प्रकाश पड़ सके। परन्तु इस सम्बन्ध में भी अब तक कोई जानकारी उपलब्ध नहीं हुई। अवेस्ता के अनुसार अहुरमज़्द अर्थात् असुरमहत् ने ज़रथुस्त्र को यह बतलाया कि सबसे पहिले सृष्टि ऐर्य्यन वीजो—आर्य्यों के बीज—में हुई थी। इसका यह तात्पर्य्य हो सकता है कि इन लोगों को यह स्मरण था कि कभी उनके पूर्वज उस स्थान पर रहते थे। पर यह स्थान कहाँ था और कब उसे छोड़कर वे लोग अन्यत्र गये, इस विषय में साधिकार कुछ नहीं कहा जा सकता।

इस स्थल पर असुर शब्द का उल्लेख हो गया है। इसके सम्बन्ध में दो शब्द कहना आवश्यक है क्योंकि आगे चलकर इसका फिर व्यवहार करना है। यद्यपि वैदिक वाङमय मे देव शब्द अच्छे और असुर शब्द बुरे अर्थ में आता है तथा इसके विपरीत प्राचीन पारसी वाङमय मे असुर अच्छे और देव बुरे अर्थ में प्रयुक्त होता है, फिर भी किसी समय ऐसा लगता है कि व्यवहार मे ऐसा पार्थक्य नही था। कम से कम वेदो मे कई स्थलो पर असुर शब्द अच्छे अर्थ मे भी आया है, कई मंत्रो मे इन्द्र के असुरत्व की महिमा गायी गई है। वरुण को भी असुर कहा गया है। पीछे पौराणिक काल के आते-आते इस बात का प्रायः लोप हो गया। फिर भी पुरानी स्मृति कही कही बच रही है। हरिवंश मे उषा और अनिरुद्ध के विवाह की जो कथा है उसमे कहा गया है कि विवाह के बाद लौटते समय श्रीकृष्ण असुर राज वरुण से लड़े थे और उनसे कुछ सुन्दर गउओं को छीन लाये थे। किसी समय देव और असुर तथा मनुष्य एक दूसरे से नितान्त पृथक् नही थे। इसका भी स्पष्ट उल्लेख है। कहा जाता है कि महर्षि कश्यप की अदिति नाम की पत्नी से देवो का जन्म हुआ। उनकी दिति और दनु नाम की पत्नियो से दैत्यो और दानवो का, जिनको ही असुर कहा जाता था, तथा मनु नाम की पत्नी से मानव अर्थात् मनुष्य का जन्म हुआ। इसका अर्थ यह हुआ कि देव, असुर और मनुष्य

एक दूसरे के सौतले भाई हैं, एक ही पिता की सन्तान हैं। इस बात को ध्यान मे रखने से इतिहास की गाथा का समझने मे सुविधा होगी। असुर और मनुष्य एक दूसरे म नितान्त भिन्न नही थे। इसके प्रमाण स्वरूप पुराणा को वह प्रसिद्ध कथा ह जिसके अनुसार श्रीकृष्ण के पौत्र का विवाह बाणासुर की पुत्री से हुआ था।

मैं यह कह रहा था कि केवल वेदा के अध्ययन से उस काल का यथार्थ पता नही चलता जब कि ऋग्वेद मे नामाविन देवो की पूजा होनी थी। इसके लिए कुछ और भी प्रमाण ढूढने चाहिए।

पश्चिमी एशिया का वह भाग, जिसको एशिया माइनर (लघु एशिया) कहते ह, सभ्यता के इतिहास मे अपना विशेष स्थान रखता है। एक तो यह दो महाद्वीपो का सगम है। यहा एशिया और अफ्रीका मिलते हैं, एक ओर एशिया की सस्कृति दूसरी ओर प्राचीन मिश्र की सस्कृति। यही दोना मे सघर्ष भी हुए, यही दोना का एक दूसरे को प्रभावित करने का, एक दूसरे से आदान प्रदान करने का, अवसर भी मिला। इस सास्कृतिक विनिमय मे अशत एशिया का प्रतिनिधित्व यहूदिया न किया। कई बार मिस्रिया से लडे, जीते भी, हारे भी। मूसा के नेतृत्व मे मिस्रिया से पिंड छुडाया, फिर रोमन साम्राज्य के अधीन हुए। उन्ही लोगा मे ईसा का जन्म हुआ। परन्तु इस भूखड म अकेले यहूदी ही नही थ, समय समय पर यहाँ ओर कई समुदायो ने बलवान् राज्य और साम्राज्य स्थापित किय। उनके अवशेष किसी न किसी रूप मे अब भो मिलते हैं। एक का चर्चा दूसरे के साहित्य म ह। कुछ पुरानी इमारतें हैं, कुछ ऐसी पुस्तक हैं जिनमे कच्चे ईट पर लिखकर ईंटा को पका दिया गया है। ऐसे कई प्रमाणा के मिलने से कुछ तुलनात्मक अध्ययन हो सकता है, इतिहास की तिथियाँ कुछ निश्चित की जा सकती ह।

ऐसे ही एक समुदाय का नाम खत्ती या खत्तिय था। बाइबिल मे इनको हित्ती कहा गया है। ऐसे प्रमाण मिलते हैं कि इनका इतिहास काल इसा पूर्व २७०० से ७०० तक अथात् २००० वर्ष रहा। इस बात के भी प्रमाण मिलते ह कि ये लोग आर्यों की ही शाखा थे। लगभग उन्ही दिनों मितानी या मितन्नी नाम के एक समुदाय का भी अभ्युदय उस प्रदेश मे हो रहा था। मितान्नी लोग

भी आर्य्य थे। ऐसा पता चलता है कि ईसा पूर्व दो हजार वर्ष तक इस प्रदेश में हित्ती या मितन्नी फैल गये थे। उन्होंने मिस्र के सम्राटों से भी लोहा लिया था। प्रकृत विषय से सम्बन्ध रखने वाली एक रोचक सामग्री मिली है। हत्ती राजा शुब्बीलुलुम और मितन्नी राजा मत्तीवजा में ईसा पूर्व १४ सौ के लगभग कभी युद्ध हुआ। युद्ध के बाद जो सन्धि हुई वह अब भी मिलती है। उसमें चार देवों को साक्षी माना गया है। उनके नाम है इनदर, मेइननर, उरुवन और नस-अत्तिय। देखने से यही प्रतीत होता है कि यह नाम इन्द्र, मित्र, वरुण और नासत्य के है। उस समय की दूषित लिपि के कारण नामों के रूप कुछ विकृत हो गये है। इसी कारण लिपि के दोषों से नरेशों के नाम अनार्य जैसे लगते हैं।

लगभग इसी समय आर्य्यों की एक और शाखा उत्तर की ओर से उस प्रदेश में उतर रही थी। ईसा पूर्व २०८० में तो एक प्रकार से इनका निश्चित पता चलता है। ये लोग कासीय या कास्य कहलाते थे। इन लोगो ने भी कई सौ वर्षों तक राज्य किया। इनके कुछ देवों के नाम थे इन्दश, सूर्यश, मरुतश। स्पष्ट ही यह इन्द्र, सूर्य्य और मरुत् के नाम है। जहाँ तक मैं समझ सकता हूँ इन नामो के अन्त में जो शकार है वह प्रथमा विभक्ति का प्रत्यय है। पाणिनि के व्याकरण के अनुसार इसका मूल रूप सु है। कई परिवर्तनो के बाद यह अस् या विसर्ग के रूप मे देख पडता है। इन कास्य देवो के नामों के संस्कृत रूप होंगे इन्द्रस् (इन्द्रः), सूर्य्यस् (सूर्यः) और मरुतस् (मरुतः)। वस्तुतः संस्कृत में मरुत् नाम का देवो का एक गण है। एकवचन मे इस शब्द का रूप मरुत् होगा।

इन सब बातो से कई रोचक और आवश्यक बातो का पता लगता है। एशिया महाद्वीप के उस भूभाग मे कम से कम तीन ऐसे समुदाय थे जो कई महत्त्वपूर्ण बातो मे वैदिक आर्य्यों से मिलते जुलते थे। उनकी भाषा आर्य्य भाषा अर्थात् वैदिक भाषा या प्राचीन संस्कृत से मिलती जुलती थी और सबसे बड़ी बात यह है कि इन लोगो के कई उपास्य वही थे जिनसे हम वेदो के द्वारा परिचित है। वे लोग भी इन्द्र, वरुण, नासत्य, मरुत् और सूर्य की पूजा करते थे।

इतना तो सिद्ध हुआ कि ईसा से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व अर्थात् इस समय से लगभग ४५ सौ वर्ष पूर्व इन देवो की किसी न किसी रूप में आर्य्यों

मे पूजा होती थी। ऐसा तो मानना ही चाहिए कि जब हमको इन आर्य समुदायो का सबसे पहिले इतिहास के पृष्ठो मे दर्शन होता है उसके कई सौ वर्ष पहिले से ये देव उनके उपास्य रहे होगे। हम नही कह सकते कि अपने इन उपास्यो को ये लोग किस प्रकार तुष्टि करते थे, किन शब्दो मे उनकी स्तुति करते थे। परन्तु इनके मानने के तो कुछ प्रमाण मिलते हैं कि इन लोगो की धार्मिक मान्यताएँ वैदिक आर्य्यों से नितान्त भिन्न नही थी। कम से कम इन्द्र की एक मूर्ति मिली है जिसके हाथ मे वज्र है। वैदिक आर्य्य भी इन्द्र को वज्रधर के रूप मे मानते हैं। आर्य्य परिवार की कहानी जिसको पाश्चात्य विद्वान् किसी भी दशा मे ३५ सौ वर्ष से आगे नही ले जाना चाहते थे, इन प्रमाणो के आधार पर कम से कम ५ हजार वर्ष पहिले तो आरम्भ हो ही चुकी थी।

इस कथा का आरम्भ कहाँ हुआ, यह भी एक रोचक प्रश्न है और इसका भी उत्तर देना उतना ही कठिन है जितना कि यह बतलाना कि कथा का आरम्भ कब हुआ।

आर्य्य लोग कहीं भी रहे हो परन्तु इतना तो मानना ही होगा कि आज से बहुत दिन पूर्व कभी वे लोग किसी एक प्रदेश मे रहते थे। एक उपजाति के रहे हो, अनेक उपजातियो के रहे हो, चाहे जैसे भी रहे हो, परन्तु कुछ लोग पर्य्याप्त काल तक एक स्थान मे रहे। स्थान या प्रदेश, जो भी कहिए, वह कितना बडा था हम नही कह सकते। परन्तु इतना बडा तो नही रहा होगा कि लोग एक दूसरे से पृथक और सर्वथा असम्बद्ध छोटी टुकडियो मे बँट जाते। उन दिनो रेल और तार जैसे यातायात और सम्पर्क के साधन नही थे। पैदल चलकर ही लोग एक दूसरे से मिल जुल सकते थे। यदि बहुत दूर-दूर रहते होते तो उनमे सांस्कृतिक सादृश्य न होता। बहुत दिनो के सम्पर्क से उनकी भाषा एक सी हो गई होगी। उपासना पद्धति मे समानता आ गई होगी, विचारो मे और रहन सहन के ढग मे एकरूपता देख पडने लगी होगी, एक सी संस्कृति का उदय हो गया होगा। भले ही पृथक् पृथक् टुकडियाँ अपने को पृथक् नामो से पुकारती हो, परन्तु एक दूसरे के प्रति अपनापे का अनुभव होता होगा। सम्भवत सब लोगो के लिए कोई एक नाम भी होगा। वेदो के देखने से ऐसे प्रतीत होता है कि ये लोग अपने को आर्य्य कहते थे। ईरानी ऐर्य्य शब्द भी आर्य्य का ही रूपान्तर है।

यों तो आजकल आर्य्य का अर्थ उत्तम, श्रेष्ठ, उदार होता है। अपने को ऐसी उपाधियों से विभूषित करना सभी को अच्छा लगता है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में आर्य्य का वंशज होना स्वयं आर्य्य कहलाने के लिए अनिवार्यत: आवश्यक नहीं था। दूसरों को भी आर्य्य कुल में सम्मिलित किया जा सकता था। ऋग्वेद का एक मंत्र कहता है, 'कृणुध्वम् विश्वम् आर्य्यम्' —सारे विश्व को आर्य्य बनाओ। इसकी सार्थकता तभी हो सकती है जब अनार्य कुल में उत्पन्न व्यक्ति भी आर्य्य संस्कृति में दीक्षित होने पर आर्य्य बनाया जा सकता हो। आजकल ऐसा माना जाता है कि आर्य्य शब्द 'ऋ' धातु से निकला है जिसका अर्थ है 'गमन'; परन्तु कई विद्वानों ने इस ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि किसी समय आर्य्य भाषाओं में 'अर' जैसा कोई धातु था जिसका अर्थ होता था, हल चलाना। इससे सम्बन्धित बहुत से शब्द उन भाषाओं में मिलते हैं जिनको आर्य्य भाषा की परिभाषा में माना जाता है। यह हो सकता है कि आर्य्य शब्द इसी धातु से निकला हो। यदि ऐसा है तो आर्य्योंने अपने को यह नाम इसलिए दिया होगा कि वे लोग कृषिकर्मा थे अर्थात् व्रात्यों से भिन्न थे।

अस्तु, जहाँ भी मूल निवास रहा हो, वहीं से समय समय पर आर्य्यों की टोलियाँ बाहर के देशों में फैली होंगी। वे जहाँ जहाँ गये होंगे अपनी सभ्यता और संगठन-शक्ति के बल पर वहाँ वहाँ के मूल निवासियों को उनसे दबना पड़ा होगा। शासन का अधिकार आर्य्यों के हाथ में आया होगा। भले ही आर्य्य और अनार्य मिलकर एक हो गये हों परन्तु भाषा, उपासना और सामान्य संस्कृति पर आर्य्यों का गहरा प्रभाव पड़ा होगा। इसी प्रकार समस्त योरप, एशिया माइनर, ईरान और भारत में आर्यत्व का विस्तार हुआ होगा।

परन्तु वह मूल स्थान कहाँ था ? एशिया माइनर को तो यह गौरव प्राप्त नहीं हो सकता क्योंकि वहाँ का इतिहास यह बताता है कि खित्ती, मितन्नी और काश्य इन सब ने बारी-बारी कहीं बाहर से आकर उस देश को घर बनाया। कुछ यूरोपीय विद्वान् ऐसा मानते थे कि यूरोप के पश्चिमोत्तर भाग से आर्य्य चारों ओर फैले। परन्तु अधिकतर विद्वानों को यह बात मान्य नहीं है। लोकमान्य तिलक का कहना है कि आर्य्यों का मूल निवास स्थान उत्तरी ध्रुव प्रदेश में था। आज वहाँ चारों ओर बर्फ फैली हुई है, परन्तु आज से १० हजार वर्ष पहिले वहाँ

ऐसा नहीं था। निरन्तर वसन्त जैसा ऋतु बना रहता था। अधिकांश पाश्चात्य विद्वानों का मत यह है कि आर्य्य लोग पहिले मध्य एशिया में रहते थे। उनका निवास पामीर की अधित्यका के आसपास कहीं था। भारतीय विद्वान् यह मानते आये हैं कि आर्य्य भारत के निवासी थे। वर्तमान काल में श्री ए० सी० दास ने इस मत का प्रतिपादन किया। मैंने भी अपनी 'पुस्तक आर्य्यों का आदि देश' में इसी का समर्थन किया है। बहुत विस्तार से इस जगह शास्त्रार्थ में जाने की आवश्यकता नहीं है, परन्तु कुछ बातें उल्लेख के योग्य हैं।

मितन्नी आदि के सम्बन्ध में तो यह स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि वे कहीं बाहर से आये। पारसियों के धर्म्म ग्रन्थ में स्वयं अहुरमज्द ने यह संकेत किया है कि सबसे पहिले उन लोगों का निवास जिस देश में हुआ वह ऐर्य्यनवेइजा था। इसके बाद तेरह और देशों में होते हुए वे लोग हप्तहिन्दु में आये और फिर उस देश में जो रघ के किनारे है। यह इराक की ओर संकेत है। उनकी यात्रा का अन्त ईरान में हुआ।

इस वर्णन से इतना तो स्पष्ट होता ही है कि पारसी आर्य्यों के पूर्वज कई देशों में घूमने के बाद अन्त में जाकर ईरान में स्थिर रूप से बसे। परन्तु भारतीय आर्य्यों के इतिहास में कहीं बाहर से आने का कोई संकेत नहीं मिलता। वेद के प्राचीन से प्राचीन भाग में भी भारत के बाहर के किसी देश का या किसी देश में यहाँ आने का कोई चर्चा नहीं है। उन लोगों को केवल उस भूभाग से परिचय था जिसको सप्तसिंधव कहते थे। उसी को अवेस्ता में 'हप्त हिन्दु' कहा गया है। यह सिंध और सरस्वती के बीच का वह देश था जिसमें सतलज, व्यास, रावी, चनाब और झेलम नदियाँ बहती हैं। इसी से उसे सप्तसिंध कहते थे। इसमें सारा पंजाब, कश्मीर का दक्षिणी पश्चिमी भाग और अफगानिस्तान का वह भाग आ जाता है जो कुभा (काबुल) नदी के आसपास बसा हुआ है। इसके दक्षिण में जहाँ आज राजस्थान है वहाँ समुद्र था। इसी प्रकार पूर्व दिशा में भी जहाँ आज उत्तर प्रदेश है, वहाँ भी समुद्र था। इससे यह बात भले ही सिद्ध न होती हो कि आर्य्य लोग सदा से इसी प्रदेश में रहते थे, पर यह तो सिद्ध होता ही है कि वे कहीं बाहर से आये भी थे तो इस बात को इतने दिन हो गये थे कि इसकी सारी स्मृति जाती रही थी। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि यदि सम्य-

सिंधव मानव सृष्टि के आदि काल से ही आर्य्यों का मूल स्थान नहीं था, तब भी उनकी एक बहुत बड़ी शाखा दीर्घकाल से इसी प्रदेश मे रहती थी और उस शाखा की संस्कृति का विकास बहुत कुछ यहीं हुआ था।

यह भी ध्यान देने की बात है कि पारसी आर्य्य भी इस बात को मानते हैं कि उनकी यात्रा के अन्त होने के लगभग अहुरमज्द ने उनको हप्तहिन्दु में बनाया था। अत. उनकी संस्कृति पर तो निश्चय ही सप्तसिन्धव की गहरी छाप रही होगी। कथा का आरम्भ सप्तसिन्धव मे भले ही न हो परन्तु इसका एक महत्व-पूर्ण अध्याय यहीं लिखा गया, ऐसा मानने के लिए पर्य्याप्त कारण है।

पश्चिमी एशिया में जो आर्य्य थे वे कहाँ से आये थे यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उनमे से कम-से-कम वे लोग जो काश्श कहलाते थे कास्पियन (काश्यपायन ?) समुद्र के दक्षिणी तट के आसपास कहीं रहते थे। इतनी बात से आर्य्यों के मूल स्थान पर कोई विशेष प्रकाश नही पड़ता। उन लोगो का हुआ क्या, यह भी एक रोचक प्रश्न है। आज तो उस प्रदेश मे आर्य्य भाषा या आर्य्य संस्कृति की कोई जगह देख नही पड़ती।

किसी समय भारत से आर्य्य संस्कृति श्याम पहुँची थी। बहुत दिनो तक वहाँ आर्य्य नरेशों ने राज्य किया। अब वहां के लोगों ने हिन्दू धर्म्म छोड़ दिया है। जनता मे पुरानी बातो का तो बहुत कुछ लोप हो गया है परन्तु अब भी वहाँ की संस्कृति पर आर्य्य संस्कृति का प्रभाव देख पड़ता है।

परन्तु पश्चिमी एशिया मे ऐसा कुछ भी नहीं है। धर्म्म की दृष्टि से लोग मुसलमान हैं। इतिहास यह बतलाता है कि उस प्रदेश मे आर्य्य नरेशो को असीरियन लोगों से घोर संघर्ष करना पड़ा। अन्त मे असीरियन विजयी हुए। आर्य्यों के हाथ से शासन सदा के लिए चला गया। ये असीरियन भी आर्य्य संस्कृति से बहुत कुछ प्रभावित थे, परन्तु आर्य्य नहीं, सेमेटिक थे, उन लोगो से मिलते-जुलते थे जिनकी वंशज अरब और यहूदी है। विद्वानो का मत है कि उन असीरियन लोगो को ही वैदिक वाङमय मे असुर कहा गया है। असुरो से पराजित होने के

बाद सम्भवत आर्य्य लोग प्रदेश के शेष निवासियो मे घुल मिल गये होगे। अपने राजनीतिक महत्त्व को खोकर उनका आत्मविश्वास भी जाता रहा होगा और काल पाकर अपनी पृथक सस्कृति से भी हाथ धो बैठे होगे। अन्तिम खित्ती नरेश ईसा से लगभग सात सौ वर्ष पूर्व असुरो से हारे। लगभग दो हजार वर्ष शासन करने के बाद खित्ती राज और उसके साथ आर्य्य सत्ता का लोप हो गया। कुछ लोगो का ऐसा विश्वास है कि कुछ आर्य्य वहाँ से निकल कर भारत मे आ बसे। इस पक्ष के विद्वानो का ऐसा विश्वास है कि इन लोगो ने काठियावाड मे आश्रय पाया।

कई विद्वानो का ऐसा मत है कि आर्य्यों की प्रारम्भिक विजयो का एक मुख्य कारण यह था कि सबसे पहिले उन लोगो ने ही घोडे को पाला था। आर्य्यों के सिवाय आरम्भ में दूसरे लोग घोडे की सवारी करना नही जानते थे। उनसे पहिले के जो अवशेष कही मिलते हैं उनमे दूसरे पशुओ के चित्र भले ही हो पर घोडे के चित्रो का अभाव होता है। जहा जहाँ भी आर्य्य लोग गये वे घोडे के महत्त्व को अपने साथ लेते गये। प्राचीन काल के कई भारतीय नरेशो के नाम मे अश्व शब्द आता है जैसे वृद्धाश्व आदि। वेद म सूर्य को अश्व कहा गया है। ईरान के भी कई नरेशो के नामो के अन्त मे अस्प आता है। फारसी मे घोडे को अस्प कहते हैं। पश्चिमी एशिया के भी कई आर्य्य नरेशो के नाम मे अश्व आया है। कुछ काल मे दूसरे लोगों ने भी घोडे पाले और युद्ध मे उनसे काम लेना सीखा। इससे आर्य्यों की श्रेष्ठता का एक बहुत बडा साधन उनके हाथ से निकल गया।

वैदिक वाङमय मे असुरो की चर्चा है और ऋग्वेद से ही यह चर्चा शुरू होती है। ऐसा लगता है कि देवो और असुरो म निरन्तर युद्ध होता रहा है। कभी एक की और कभी दूसरे की जीत हुई है। इतना ही नही, ऐसा लगता है कि देवगण भी कई बार हार गये है और किसी बाहरी सहायता के मिलने पर ही उनको विजय प्राप्त हुई है। विद्वानो का देवासुर सग्राम के वर्णन म पश्चिमी एशिया म होने वाले आर्य्य और असुर जातियो की लडाई की ध्वनि मिलती है। स्वभावत भारतीय वाङमय मे असुरो का बुरा चित्र खीचा गया है। शत्रुओ का निन्दनीय रूप मे दिखलाना मनुष्य का स्वभाव सा है। असुर अर्थात् असीरियन भाषा में असुर का अर्थ है उदार या श्रेष्ठ।

ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय साहित्य मे असुर शब्द दो अर्थों में आया है। एक ओर तो उन असुर लोगों को उद्दिष्ट किया गया है जिनसे आर्य्य लोगों को पश्चिमी एशिया मे लड़ना पड़ा था। यो तो देवो और असुरों का वर्णन इस प्रकार मिला जुला है कि उससे यह प्रतीत नही होता कि असुर कहां के निवासी थे परन्तु कहीं कहीं स्पष्ट चर्चा भी मिल जाता है। उषा, अनिरुद्ध के विवाह की कथा को लीजिए। आजकल लोग साधारणतया इस बात को भूल गये है कि बाणासुर की राजधानी शोणितपुर कहां थी। उत्तराखंड में केदारनाथ से कुछ दूर एक स्थान है जिसको ऊखीमठं कहते हैं। लोगो को विश्वास है कि यह ऊखी शब्द उषा का अपभ्रंश है। ऐसा माना जाता है कि उसी के पास पहाड़ो पर कहीं बाणासुर की राजधानी थी। परन्तु हरिवंश में स्पष्ट शब्दों मे कहा गया है कि शोणितपुर श्रीकृष्ण के निवास स्थान द्वारका से बहुत दूर पश्चिम की ओर था। उसी कथा मे यह भी कहा गया है कि शोणितपुर से लौटते हुए मार्ग में असुर राजा वरुण की पुरी पड़ी थी। कम से कम इस कथा के अनुसार तो असुर लोग भारत से पश्चिम किसी दूर देश में रहते थे। इससे इस बात की पुष्टि होती है कि असुर लोग एशिया माइनर के रहने वाले थे।

सोचने की बात यह है कि यदि आर्य्यों की किन्हीं टुकड़ियो से सुदूर प्रदेश में वहाँ के निवासी असुरो से युद्ध हुए तो भारतीय आर्य्यों को उन लड़ाइयों का पता कैसे चला? जिस प्रकार उन युद्धो का वर्णन मिलता है उससे तो ऐसा लगता है कि यह सब वर्णन सुनी सुनायी बातों के आधार पर नहीं किये गये है। सिवाय इसके कि वहाँ की लड़ाइयो के बाद पराजित होकर कुछ आर्य्य भारत आये हों और यहाँ आकर बस गये हो तथा कुछ काल पाकर उनकी गाथायें भारतीय आर्य्यों की गाथाओ मे मिल गई हो, यह बात और किसी प्रकार समझ मे नही आती।

परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि भारत मे भी आर्य्यो को किन्ही प्रबल शत्रुओं से लोहा लेना पड़ा। जहाँ तक समझ मे आता है यह शत्रु वर्ग पश्चिमी एशिया के असुरो की भाँति सेमेटिक नही था, परन्तु अपने पुराने शत्रुवाची शब्द का व्यवहार करके इन लोगो को भी असुर नाम से पुकारा गया है। ऐसा लगता है कि भारत मे कोई बहुत प्रतापी असुर राजवंश था। महाभारत तथा कुछ अन्य ग्रथों में भी कुछ नरेशो के नाम दिये हुए है जिनका चर्चा प्राचीन भारतीय इतिहास मे

कई जगह आता है। संक्षेप मे, दिति के पुत्र हिरण्यकशिपु के पाँच लडके हुए प्रह्लाद, सह्लाद, अनुह्लाद, शिवि और बप्कल। प्रह्लाद के तीन लडके विरोचन, कुम्भ और निकुम्भ हुए और विरोचन के लडके वलि। वलि के लडके का नाम वाण था। दनु के ४० लडके थे जो दानव कहलाये। इनमे से विप्रति, शम्बर, नमुचि आदि के नाम पुराणो मे कई स्थलो पर आये हैं। यह कहना बहुत कठिन है कि इस असुर वश के नरेशो की राजधानी कहाँ थी। पुराणो के अनुसार उनका निवास पाताल मे था। इसका अर्थ यह हो सकता है कि वे लोग दक्षिणी भारत के निवासी थे। इसकी पुष्टि दो तीन बातो से होती है। केरल के निवासियो का यह विश्वास है कि पुराकाल मे वलि उनके राजा थे। अब भी वे लोग एक सप्ताह के लिए बडे धूमधाम से ओनम नाम का उत्सव मनाते हैं, क्योकि यह धारणा है कि उस समय वलि अपनी प्रजा को देखने आते है। मैसूर म यह धारणा है कि महिषासुर वही राज करता था।

इन सब बातो से यह अनुमान हो सकता है कि सम्भवत असुर वश का राज्य दक्षिणी भारत म रहा हो, परन्तु एक शका उठती है। वैदिक काल मे आर्य्यों का दक्षिणी भारत से कोई सम्पर्क था, इसका कोई प्रमाण नही मिलता। उस समय यदि सप्तसिन्धव के पूर्व मे समुद्र था तो दक्षिण जाना और भी कठिन था। पुराणो के अनुसार वैदिक काल के बहुत पीछे अगस्त्य के नेतृत्व म आर्य्यों की एक टोली दक्षिणी भारत पहिले पहिले गई। मद्रास और बम्बई की ब्राह्मण अनुश्रुति भी इस पौराणिक कथा का समर्थन करती है। समुद्र मार्ग से दक्षिण से आना जाना हो सकता था परन्तु देव और असुर एक दूसरे से लडने के लिए समुद्रगामी जहाजो से काम लेते थे, इसका कोई सकेत नही मिलता। इस सम्बन्ध मे एक और बात ध्यान देने के योग्य है कि असुर किन्ही अवैदिक देवो के उपासक नही थे। उनके किन्ही ऐसे उपास्यो के नाम नही मिलते जो वैदिक आर्य्यों के उपास्यो से भिन्न रहे हो। असुर परिवार निश्चय ही बलशाली और सभ्य समुदाय था, भले ही कुछ बातो म उनसे आर्य्यों का वैमत्य रहा हो। यदि आर्य्यों और असुरो के उपास्य एक ही थे तो यह भी मानना पडेगा कि आर्य्य सस्कृति के विकास मे इन समुदायो का भी हाथ था। जहा कही भी ये दोनो रहते थे वहाँ इस कथा के कई प्रामाणिक अध्याय लिखे गये होगे। आर्य्यों और असुरो का सम्बन्ध कितना घनिष्ट था, यह इसी कथा से सिद्ध होता है कि देवराज इन्द्र की कन्या जयन्ती से असुरगुरु शुक्राचार्य का विवाह हुआ।

यही उस देव परिवार का पुराकालीन इतिहास है जिसके प्रसार का चर्चा सक्षेप मे पुस्तक मे किया गया है। इतिहास विषयक अब तक की उपलब्ध सामग्री बहुत थोड़ी है। साधिकार यह नही कहा जा सकता कि आर्य्य लोग कहाँ रहते थे या यो कहिए कि आर्य्य संस्कृति का कहाँ उदय हुआ। इस संस्कृति को आर्य्य लोग अनेक देशो मे ले गये, परन्तु इसकी कुछ मुख्य धारणायें थीं जो सब जगह उनके साथ गईं। उनके कुछ विश्वास थे, रहन-सहन के कुछ ढंग थे, अपनी एक भाषा थी। बहुत से परिवर्तन हुए, फिर भी उन चीजों का नाश नही हुआ। उनको विकसित होने मे, एक स्थिर रूप प्राप्त करने मे, कुछ समय लगा होगा। उस समय को उन लोगों ने कहाँ बिताया, यह ज्ञात नही है। भारतवासी प्रायः ऐसा मानते रहे है कि सप्तसिंधव प्रदेश वह भाग्यशाली गह्वर है जिसमे आर्य्य संस्कृति का उदय हुआ, परन्तु आजकल के बहुत से विद्वानों की सम्मति इस मान्यता का समर्थन नही करती। इतिहास के रंगमंच पर आर्य्य पाँच हजार वर्ष पहिले आये। यह बात एशिया माइनर के आर्य्यों के सम्बन्ध में तो निश्चय के साथ कही जा सकती है। उस खंड में जिसमें आज लेबूनान, जार्डन, इज्राएल तथा इराक के राज्य हैं। खित्ती, मित्तन्नी, काश्य कहीं बाहर से आये, लड़े-भिड़े, बस गये। ईरान के आर्य्यों के इतिहास का भी इस प्रकार का कुछ परिचय मिलता है, परन्तु भारतीय आर्य्यों को इस बात की कोई स्मृति नहीं थी कि वह कभी बाहर से आये थे। इस विषय की जानकारी अपूर्ण है।

परन्तु आर्य्य चाहे जहाँ रहे हो और जहाँ गये हों उनके उपास्यों, देवों, के सब नही तो कुछ नाम सर्वत्र मिलते हैं। वेदों के मुख्य देवों में इन्द्र, वरुण, यम, सूर्य्य, मित्र, नासत्य, विष्णु, रुद्र और अग्नि हैं। इनमे से अधिकाश नाम आज भी हिन्दू समाज मे प्रचलित हैं। केवल एक नाम के सम्बन्ध में कुछ अन्तर हुआ है। नासत्य शब्द का व्यवहार वेद मंत्रो को छोड़कर आजकल प्राय. उठ गया है। उनको उनके दूसरे नाम अश्वी से पुकारा जाता है। साधारणत. तो अश्विनी कुमार नाम लोक मे अधिक प्रचलित है। इन देवों में से सब का चर्चा आर्य्यों की दूसरी शाखाओं मे नही मिलता। कहीं किसी को महत्ता दी गई है, कही किन्हीं दूसरे देवों को। उदाहरण के लिए, ईरान मे सूर्य्य और अग्नि को प्रधानता है तथा इन्द्र का नाम तक नहीं है। उनकी जगह अहुरमज्द, उरमज्ज, असुरमहत् ने ली है। वैदिक वाङ्मय मे इससे मिलता-जुलता कोई शब्द नही है, यद्यपि देवों

के लिए भी असुर शब्द कई स्थलों पर प्रयुक्त हुआ है। पश्चिमी आर्यों में अर्थात् हित्तिया और मित्तनिया में इन्द्र, मित्र, वरुण और नासत्यों की पूजा होती थी तथा कास्या में सूर्य्य की प्रधानता थी, यद्यपि उन लोगों की देव सूची में इन्द्र भी थे।

एक नाम का और भी उल्लेख होना चाहिए। वह है द्यौ। साधारणत द्यौ शब्द आकाश का वाचक है। परन्तु वैदिक वाङमय में इसको और भी गम्भीर अर्थों में प्रयुक्त किया गया है और द्यौ का नाम देव सूची में भी आता है। ऐसा कहा गया है कि 'पृथ्वी मे माता, द्यौ पिता'—पृथ्वी हमारी माता है, द्यौ पिता है। इस मन्त्र को देखिए—

द्यौष्पित पृथिवि मातरध्रुगग्ने भ्रातवसवो मूळता न ।
विश्व आदित्या अदिते सजोषा अस्मभ्य शर्म बहुलवियन्त ॥
(ऋक् ६, ५१, ५)

'हे पिता द्यौ, माता पृथ्वी, भ्राता अग्नि तथा वसुओ, आप लोग हमको सुखी करें। हे सब आदित्यगण, हे अदिति, आप लोग मिलकर हम लोगों का बहुत कल्याण करें।' यह द्यौ शब्द यूनानियों म ज्यूस हो गया। यह उनके यहाँ देवराज का नाम था। यही शब्द, द्यौ पितर, इटली वालों में जूपिटर के रूप में आया।

अब प्रश्न यह है कि यह देवगण कौन थे? उनके सम्बन्ध में आर्यों की धारणा क्या थी? इस प्रश्न का एक उत्तर नहीं दिया जा सकता। उत्तर का सहारा मुख्य रूप से वेद और उसके बाद अवस्ता है। यद्यपि पुस्तक के प्रथम खड में इस प्रश्न पर मुख्य रूप से विचार किया गया है परन्तु यहाँ भी इस विषय पर कुछ कहना आवश्यक प्रतीत होता है। वद मन्त्रों की व्याख्या करने म कई बातों का ध्यान रखना पड़ता है। एक ही मन्त्र के दो अथ लग सकते हैं और कभी कभी यह कहना कठिन ही नहीं प्राय असम्भव हो जाता है कि इनमें से कौन-सा अर्थ ठीक है।

उदाहरण के लिए एक सीधा सा वाक्य लीजिए। इन्द्रो वृत्रम् जघान—इन्द्र

ने वृत्र को मारा। सीधा सा वाक्य है और इस अर्थ के द्योतक वेद में कई वाक्य हैं। अब इन तीन शब्दों की व्याख्या कई प्रकार से हो सकती है। पहिले तो ऐतिह्य शैली है। ऐतिह्य का अर्थ हुआ इतिहासमूलक। सचमुच कभी इन्द्र किसी व्यक्ति विशेष का नाम रहा होगा, वह देव रहा हो या मनुष्य, इसी प्रकार वृत्र भी किसी व्यक्ति विशेष का नाम रहा होगा। सम्भव है इन्द्र आर्य्यों के नेता और वृत्र अनार्य्यों के सेनापति रहे हों, दोनों पक्षों में युद्ध हुआ हो और इन्द्र ने वृत्र को युद्ध में मारा हो। वेदों में युद्ध के कई ऐसे वर्णन मिलते हैं। इसी प्रकार कहा गया है—अस्माकंवीरा उत्तरे भवन्तु—'हमारे वीर विजयी हों,' योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयम् द्विष्मः तम् जम्भेदध्मः—'जो हमसे द्वेष करता है या जिससे हम द्वेष करते हैं उसको दांतों के बीच रखकर चीर डालें।' उत्तिष्ठत सन्नह्यध्वम् उदाराः केतुनः सह— 'उठो और अपने झंडों को ऊपर उठाकर तैयार हो जाओ।' सुदास और १० राजाओं के युद्ध का विस्तृत वर्णन है। ऐसी दशा में ऐतिहासिक अर्थ करना कुछ असमीचीन नहीं प्रतीत होता।

कुछ विद्वान् वेदों के सम्बन्ध में इस शैली को स्वीकार नहीं करते। स्वामी दयानन्द सरस्वती का कहना है कि वेद में रूढ़ि शब्द नहीं हैं, अर्थात् ऐसे शब्द नहीं हैं जो किन्ही व्यक्ति विशेषों के नाम हों। उनके मत से जितने भी रूढ़िरूपी शब्द देख पड़ते हैं, वह सब यौगिक हैं अर्थात् ईश्वर के किसी गुण विशेष के द्योतक हैं, या फिर अविद्या आदि के लिए व्यवहृत हुए हैं। यह भी वेद मंत्रों की व्याख्या करने की एक शैली है। इस उपर्युक्त व्याख्या का यह अर्थ हो सकता है, 'ईश्वर ने अज्ञान को दूर कर दिया।'

एक दूसरी शैली है जिसको यास्क ने निरुक्त में अपनाया है। यह शैली पाश्चात्य विद्वानों को भी बहुत पसन्द है। इसके अनुसार ऐसे वाक्यों में किन्हीं प्राकृतिक दृश्विषयों का वर्णन किया गया है। वृत्र का अर्थ है ढकने वाला। यह वैदिक वाङ्मय में कई जगह कहा गया है कि इन्द्र और सूर्य्य एक ही हैं, इन्द्रो वै सूर्य्यः तब इस वाक्य का यह अर्थ किया जा सकता है कि 'सूर्य्य ने बादलों को छेदकर अंधकार को दूर कर दिया।'

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि ऐसे वाक्यों में समाधि भाषा या सांकेतिक

भाषा से काम लिया गया है। उनके मन से इस वाक्य मे योग की किसी अनुभूति का वणन है जिसमे अधकार को दूर करके प्रकाश का उदय होता है।

अब इन सब अर्थों मे से किस अर्थ को स्वीकार किया जाय? सम्भव है मत्रकर्त्ता को सभी अथ अभीष्ट हो। यह हो सकता है कि उसका मुख्य लक्ष्य अतिम अथ, आध्यात्मिक अथ, रहा हो, पर उसको व्यक्त करने के लिए उसने जान बूझकर ऐसी भाषा से काम लिया जिससे दूसरा अथ भी लक्षित होता हो। यदि इन्द्र और वृत्र की लडाई की स्मृति उस समय चली आती हो तो उसी के वणन के बहाने आध्यात्मिक बात कही जा सकती थी। इसी भाँति सूर्य्य और बादल की उपमा से भी काम लिया जा सकता था। इस उदाहरण से प्रतीत हो जायगा कि उन वाक्यो का जिनमे देवो की चर्चा है, अर्थ लगाना कभी कभी कितना कठिन हो जाता है। फिर भी अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि हर जगह स्वामी दयानन्द जी का मत मान्य नही हो सकता। आगे चलकर पुस्तक मे वेद मत्रो से कुछ ऐसे उदाहरण दिये गये है जिनमे यह प्रतीत होता है कि प्रत्येक स्थल पर इन्द्र आदि शब्दो को ईश्वरवाची मान लेना यथाथ नही है। ऐसा मानना चाहिए कि इन्द्र, वरुण, अग्नि किन्ही विशेष व्यक्तियो के नाम हैं।

वेद मे बहुत से ऐसे स्थल हैं जहाँ गूढ़ आध्यात्मिक तत्त्व स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किये गये हैं। इनमे अनेकता के बीच मे उस एकता का प्रतिपादन किया गया है जो भारतीय दशन, विशेषत वेदान्त, की आत्मा है। उदाहरण के लिए

> इन्द्रम्, मित्रम्, वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य स सुपर्णो गरुत्मान् ।
> एकम् सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि यम मातरिश्वानमाहु ॥
> (ऋक् १, १६४, ४६)

लोग उसको इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि कहते हैं। वह दिव्य सुदर पखो वाला पक्षी है। एक सत् को विद्वान अनेक नामो से पुकारते हैं। उसको अग्नि, यम, मातरिश्वा कहते हैं।'

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ।।
(ऋक् १, १६४, ३९)

परव्योम में जहाँ सब देव निवास करते हैं अक्षर के ऊपर सब ऋक्, अर्थात् ऋग्वेद के मंत्र स्थित हैं। जो उस अक्षर को नही जानता वह ऋक् को लेकर क्या करेगा ? जो लोग उसको जानते हैं वे यहाँ एकत्र हैं।

ये मंत्र ऐसे हैं जिनको ईश्वरपरक कहा जा सकता है। प्रथम मंत्र यह कहता है कि इन्द्रादि जितने भी नाम हैं वह सब उसी एक सत् के लिए प्रयुक्त हुए हैं। वही एक परमात्मा सभी नामों का आस्पद और सभी गुणों का आधार है। दूसरा मंत्र यह कहता है कि परम व्योम मे जितने भी देव है सब एकत्र हैं, वही अक्षर के ऊपर ऋचाओ का, अर्थात् वेद मंत्रों का स्थान है। ऋग्वेद के जिस अस्यवामस्य सूक्त का यह मंत्र है उसमे कहा गया है कि परम व्योम में सहस्राक्षरा वाक् रहती है। वहीं सब देवो का निवास बताया गया है । यहाँ भी ऐसा माना जा सकता है। 'देवा:' का अर्थ है सभी नामों के और गुणो से सम्बोध्य ईश्वर। ऋग्वेद के द्वितीय मंडल के १२वें सूक्त में कई ऐसे मंत्र हैं जिनके अन्त में यह शब्द आते हैं स जनास इन्द्रः 'लोगों, वह इन्द्र है।' इन मंत्रो मे इन्द्र के कई प्रकार के परिचित दिये गये है। उदाहरण के लिए, ५वां मंत्र कहता है "यस्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरमुतेमाहुर्नैषोअस्तीत्येनम्" 'उसको देखते नही, लोग पूछते है वह कहाँ है ? कुछ लोग यह भी कहते हैं कि वह नही है।' यह ऐसे स्थलो के उदाहरण है जहाँ इन्द्र शब्द ईश्वरवाची रूप मे व्यवहृत हुआ है। ऐसे बहुत से मंत्र अग्नि आदि के लिए भी मिलते हैं। आर्य्य समाज के विद्वान् ऐसा मानते हैं कि देव शब्द विद्वान् ब्राह्मण के लिए व्यवहार में आता है। इसका भी उदाहरण दिया जा सकता है, जैसे :

परावतो ये दिधिषन्त आप्यं मनुप्रीतासो जनिमा विवस्वतः ।
ययातेये नहुष्यस्य बर्हिषि देवा आसते ते अधिब्रुवन्तु नः ।।
(ऋक् १०, ६३, १)

'जो देवगण दूर से आकर वैवस्वत मनु की सन्तान मनुष्यों से प्रेम करके

उनका धारण करते हैं और ययाति के पुत्र नहुष के आसनों पर बैठे हैं, वे हमारे लिए कल्याणकारी बातें कहें।'

भौतिक दृग् विषयों के भी उदाहरण मंत्रों से दिये जा सकते हैं। ऋग्वेद के दशवें मंडल के १२७वें सूक्त की शाक्त जगत् में बड़ी महिमा मानी जाती है। वह रात्रि सूक्त के नाम से प्रसिद्ध है। उसका पहला मंत्र है

> रात्री व्यख्यदायती पुरुत्रा देव्यक्षभि ।
> विश्वा अधिश्रियोऽधित ।

'आती हुई रात्रि देवी चारों ओर अनेक आँखों से देखती हैं। वह सभी शोभायें प्रदान करती हैं।'

इसके आगे सात और मंत्र हैं। उनमें प्रत्यक्ष रूप से रात्रि काल का वर्णन है। इसी दशम् मंडल के १३९वें सूक्त का प्रथम मंत्र कहता है

> सूर्यरश्मिर्हरिकेशः पुरस्तात् सविता ज्योतिरुदयाँ अजस्रम ।
> तस्य पूषा प्रसवे याति विद्वान्त्सम्पश्यन् विश्वा भुवनानि गोपा ॥

'सूर्यरश्मियों से युक्त हरित वर्ण केशवाले सविता पूर्व दिशा में नित्य ज्योति फैलाते हैं। उन सविता के प्रेरक और रक्षक पूषा सारे भुवनों को देखते हुए आते हैं।'

उषा के प्रकट होने के बाद और सूर्य्य विम्ब के निकल आने से पहिले के काल के अभिमानी को सविता कहते हैं। या यह समझें कि सूर्य्य विम्ब के पूर्ण रूप से निकल आने से पहिले जो रूप रहता है उसको सविता कहते हैं। प्रत्यक्ष ही इस मंत्र में सूर्योदय काल का वर्णन है। पर जहाँ ऐसे मंत्र हैं वहाँ बड़ी संख्या में ये मंत्र भी हैं जिनकी इस प्रकार व्याख्या नहीं की जा सकती, न सभा मंडप में उपस्थित विद्वानों को उनका उद्दिष्ट बनाया जा सकता है और न ऐसा माना जा सकता है कि उनका संकेत शुद्ध परमात्मा की ओर है, या तो 'सर्व खलु इदं ब्रह्म' मानकर जो कुछ कहा जाय उसका लक्ष्य परमात्मा माना जा सकता है। उदाहरण

के लिए, द्वितीय मडल के जिस १२वे सूक्त का चर्चा पहिले आ चुका है उसका ही १३वाँ मंत्र इन्द्र का परिचय इन शब्दों मे देता है—

द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते शुष्माचिदस्य पर्वता भयन्ते ।
यः सोमपा निचितो वज्रबाहुर्यो वज्रहस्तः स जनास इन्द्रः ।।

'हे लोगो, इन्द्र वह है जिनके सामने आकाश और पृथ्वी झुकते है, जिनके बल से पर्वत डरते है, जो सोमपान करने वाले दृढांग वज्रबाहु वज्रधारी हैं।'

इस मत्र मे यदि सोमपान का चर्चा न होता तो ऐसा मान लिया जाता कि वर्षा में होने वाले वज्रपात अर्थात् बिजली गिरने की ओर सकेत है। परन्तु बिजली सोमपान नही करती । दूसरी ओर यह भी ध्यान में रखने की बात है कि यह सब किसी मनुष्य या अन्य साधारण व्यक्ति का विवरण नहीं हो सकता जिससे आकाश, पृथ्वी, सारे पर्वत भय खाते हैं और जो हाथ मे वज्र लेकर चलता हो।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवस्तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याःसन्ति देवाः ।।
(ऋक् १०, ९०, १६)

देवो ने यज्ञ के द्वारा यज्ञ किया। यह प्रथम धर्म्म हुआ। जिस नाक मे पूर्वकालीन साध्य देव हैं उसको वह महात्मा (या महिमा युक्त) पुरुष प्राप्त होते हैं।'

यह तो इस मंत्र का शब्दार्थ हुआ। इसकी व्याख्या तो बहुत विस्तार से करनी होगी तब ही ठीक अर्थ समझ मे आ सकता है। थोड़े में, मंत्र का तात्पर्य यह है कि सृष्टि के आरम्भ होने के पहिले देवगण ने मानस सकल्प रूपी यज्ञ से यज्ञपुरुष अर्थात् प्रजापति को तुष्ट किया। यज्ञ करने से उनको उन कर्त्तव्यो को पालन करने की प्रेरणा और शक्ति मिली जो उनको भावी सृष्टि मे निबाहने थे। उनकी इस यज्ञस्वरूप उपासना से वे प्रथम धर्म्म अर्थात् जगत् को चलाने वाले आदि नियम प्रकट हुए। यही वह धर्म्म है जिनकी ओर ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त मे सकेत किया गया है:

ऋतञ्चसत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत—प्रजापति के अभीद्ध अर्थात् 'प्रज्वलित तप से ऋत और सत्य उत्पन्न हुए'। ऋत् उन नियमों को कहते हैं जिनके अनुसार भौतिक जगत् प्रचलित होता है और सत्य नैतिक जगत् के परिचालन नियमों को कहते हैं। सत्य का ही दूसरा नाम कर्म सिद्धान्त है। देवों के मानस यज्ञ से ऋत् और सत्य का उदय हुआ। जो कोई मनुष्य यत्न करता है वह महिमाशाली होता है और नाक के उस उत्कृष्ट धाम को प्राप्त होता है जहाँ पहिले के अर्थात् पुराने कल्पों के साध्य देव रहते हैं। इस मत्र की व्याख्या उस प्रकार नहीं की जा सकती जिसका उदाहरण इसके पहिले दिया गया है। इस ढंग का कोई भी अर्थ निकालना मंत्र के अर्थ को अनर्थ में परिणत कर देना होगा।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इसकी पदार्थ नाम से इस प्रकार टीका की है, "हे मनुष्यो, जो विद्वान् लोग पूर्वोक्त ज्ञान यज्ञ से रत सत्रक्षक अग्निवत् ईश्वर की पूजा करते हैं वे ईश्वर की पूजा आदि धारणा रूप धर्म अनादि रूप से मुख्य हैं। वे विद्वान् महत्त्व से युक्त हुए, जिस सुख में इस समय से पूर्व हुए साधनों का किये हुए प्रकाशमय विद्वान् हैं उससे सब दुःख रहित मुक्ति सुख को ही प्राप्त होते हैं। इसको तुम लोग भी प्राप्त होओ।"

मेरी समझ में यह अर्थ कदापि समीचीन नहीं बैठता। पहिले तो इस सूक्त में सृष्टि से पूर्व के यज्ञ का प्रसंग है। इस मंत्र में उसके लिए अयजन्त और आसन् जैसे भूतकाल सूचक शब्द आये हैं। स्वामी जी ने इनका अर्थ वर्तमान कालिक शब्दों में किया है, जैसे अयजन्त के लिए उन्होंने 'पूजा करते हैं' का व्यवहार किया है और आसन् के लिए 'हैं' कहा है। यह उनको इसीलिए करना पड़ा कि भूतकालिक अर्थ करने से इस मंत्र का संबंध वर्तमान कालिक विद्वानों के साथ जोड़ने नहीं बनता।

दूसरी पंक्ति में भी नम्रता से कहना पड़ता है कि अर्थ का अनर्थ किया गया है। साध्य का अर्थ किया गया है साधन किये हुए अर्थात् साधक युक्त, दूसरे शब्दों में, साधक। जहाँ तक मैं जानता हूँ साध्य शब्द का यह अर्थ नहीं हो सकता। साधक का जो लक्ष्य होता है, जिसको सामने रखकर साधना की जाती है, उसको साध्य कहते हैं। स्वामी जी परम विद्वान् थे। उन्होंने ऐसी धारणा बना ली थी कि मनुष्यों के अतिरिक्त किसी प्रकार के देवों का अस्तित्व नहीं है।

इसलिए उनको ऐसा अर्थ करना पड़ा। देव होते हैं या नहीं होते, परन्तु मंत्र यह कहता है कि पुरा काल के तपस्वी अपने यज्ञ और तप के बल से नाक में रहते हैं, जो लोग उनका अनुसरण करेंगे वह भी उनकी ही भाँति नाक को प्राप्त होंगे।

वस्तुत. नाक दिक् की सीमा में नहीं है। वह उन विशेष आनन्दमयी अवस्था का नाम है जिसका अनुभव तपस्वियों और ऊंचे याज्ञिकों को होता है।

एक और उदाहरण देता हू। दशम मंडल के १४वें सूक्त में सद्योमृत अर्थात् तत्काल मरे हुए प्राणी की आत्मा से कहा जाता है :

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिः यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः ।
उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवम् ॥

'जाओ, जाओ उस पुरातन मार्ग से जिससे हमारे पहिले के पितृगण गये थे। वहाँ तुम अमृतान्न से तृप्त दोनो राजाओ को देखोगे, यम और वरुण देव को।' (ऋक् १०, १४, ७)

इस मंत्र मे स्पष्ट शब्दों मे उस अनुभव का चर्चा है जो मरने पर आत्मा को होता है। उससे कहा गया है कि तुमको यम और वरुण नाम के दोनों देवों के दर्शन होंगे। ये शब्द पृथ्वी पर स्थित किन्ही वर्त्तमान-कालीन विद्वानों के लिए नहीं कहे जा सकते। मरने पर किन्ही दो विद्वानो के दर्शन होने की कोई सम्भावना नही हो सकती। इन शब्दों के द्वारा किसी प्राकृतिक दृग्विषय का भी वर्णन नही प्रतीत होता। परमात्मा के लिए भी इनका व्यवहार नहीं हुआ है। एक तो, पहिली बात यह है कि ईश्वर एक है, मरने पर दो ईश्वरो का दर्शन होगा, ऐसा कहना निरर्थक वाक्य है। दूसरी बात यह है कि यह कहने का क्या तात्पर्य होगा कि दो रूपो मे ईश्वर स्वधा से, अमृत से, तृप्त हो रहा है; और तीसरी एक सबसे बडी बात यह है कि मरने वाले को ईश्वर का दर्शन क्यों होगा ? यह मंत्र किसी योगी की आत्मा को सम्बोधित करके नही कहा गया है। साधारण गृहस्थ का चर्चा है। हर मरनेवाला व्यक्ति ईश्वर-साक्षात्कार का अधिकारी नही हो सकता। यदि ऐसा माना जाय तो योग आदि साधना का कोई प्रयोजन नही रह जायगा। मरने पर सबको ही ईश्वर का साक्षात्कार हो

जायगा। सभी मुक्त हो जायगे। ऐसी दशा मे तो श्रुति के ये वाक्य झूठे हो जायगे—ऋते ज्ञानान्न मुक्ति—'ज्ञान के बिना मुक्ति नही होगी।'

यावन्न क्षीयते कर्म शुभमाशुभमेव वा।
तावन्न जायते मोक्षो नृणां कल्पशतैरपि ॥

'जब तक शुभ और अशुभ कर्मों का क्षय नही होता तब तक सौ कल्पो मे भी मोक्ष की प्राप्ति नही हो सकती।'

और अधिक उदाहरण देने की आवश्यकता नही है। यह स्पष्ट ही है कि वेद मे देव शब्द और चाहे जिन अर्थों मे आया हो परन्तु उसमे किन्ही विशेष प्रकार के व्यक्तियो को भी अभिलक्षित किया गया है जो मनुष्यो से भिन्न हैं। इसी प्रकार इन्द्र आदि शब्दो का व्यवहार भले ही परमात्मा के लिए किया गया हो परतु वह केवल यौगिक शब्द नही है। उनके द्वारा किन्ही ऐसे व्यक्ति-विशेषो की ओर सकेत किया गया है जिनको देव कहा गया है।

मेरे कहने का यह तात्पर्य नही है कि वेदो म देव शब्द सवत्र एक ही अर्थ म प्रयुक्त हुआ है। वेद के सम्बन्ध मे ऐसा माना जाता है कि उसम जो कुछ लिखा है वह ईश्वरीय ज्ञान है और वह पुस्तक अपौरुषेय है अर्थात् वेदमत्रो की रचना किन्ही मनुष्यो ने नही की है। जहाँ तक ईश्वरीय ज्ञान होने की बात है, वस्तुत सभी सच्चा ज्ञान ईश्वरीय होता है। विज्ञान वेत्ता को अपनी प्रयोगशाला म प्रकृति के जब किसी रहस्य का पता होती है तब ऐसा मानना उचित ही है कि वह ज्ञान ईश्वर से प्राप्त हुआ है। कथा प्रसिद्ध है कि आज से कई सौ वष पहिले आर्किमिडीज एक सार्वजनिक स्नानागार मे नहा रहे थे। वह नहाते जा रहे थे और इस समस्या पर विचार कर रहे थे कि जब कोई वस्तु पानी मे पडती है तो उसका कितना भाग डूबता है और क्यो। उनका चित्त इसी विषय पर एकाग्र हो गया था। एकाएक उनकी समझ में यह बात आ गई और सुधबुध यहाँ तक भूल गई कि स्नानागार से निकल कर साइरेक्यूज नगर की सडकों पर यूरीका कहते हुए अपने घर की ओर नगे दौड़ गये। यूरीका का अर्थ है 'मैंने उसे पा लिया'। एसा

मानना अनुचित न होगा कि आर्किमिदीज की मानस अवस्था एक प्रकार की समाधि थी। उनको नहाते समय ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त हुआ।

वेदों मे भी ईश्वरीय ज्ञान है, इसमे सन्देह नही; परन्तु समूचे वेद में ईश्वरीय ज्ञान है यह कहना भी उचित न होगा। उदाहरण के लिए इस मत्र को देखिए :

द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य।
आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः॥
(ऋग् १, १६४, ११)

'बारह अरोवाली पहिया कभी बिगडती नही, वह ऋत के आकाश के चारो ओर घूमती रहती है, हे अग्नि, तुम्हारे ७२० पुत्र जोड़ों मे बंटे हुए वहीं रहते हैं।'

स्पष्ट ही इस मत्र मे कोई ईश्वरीय ज्ञान नही है। यहां वर्ष का वर्णन है। यह १२ अरे बारह महीने है। साल के ३६० दिन होते हैं जिनके दिन रात दोनो को लेकर ७२० की संख्या होती है। यह बात तो मनुष्य अपने साधारण अनुभव से जान सकता है।

मंत्रो के साथ जिन ऋषियों के नाम गिनाये जाते हैं उनको मत्रकर्ता न कह कर मत्रो का द्रष्टा कहा जाता है। ऐसा माना जाता है कि समाधि की अवस्था मे यह मंत्र उनकी बुद्धि मे आप से आप ईश्वर की ओर से स्फुरित हुए। ऐसा नही हुआ यह तो मैं नही कहता, परन्तु वेद मे जितने मत्र है सब इसी प्रकार के हैं ऐसा कहना भी कठिन प्रतीत होता है। कुछ मंत्रों से ऋषियों का कर्तृत्वाभिमान प्रत्यक्ष ही झलकता है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद के प्रथम मंडल के १६४वे सूक्त के ५वे मत्र को देखिए :

पाकः पृच्छामि मनसा विजानन्देवानामेना निहिता पदानि।

'मेरी बुद्धि अपरिपक्व है। मैं मन से इस बात को नही जानता हूँ अतः पूछता हू कि देवो के पद (धाम या निवास स्थान) कहाँ हैं ?'

इसी सूक्त के ४९वें मन्त्र मे ऋषि दीर्घतमा कहते हैं—

'हे धन को देनेवाली, वसुओ का ज्ञान रखने वाली, सौभाग्यप्रद सरस्वती, अपना वह अक्षय स्तन जो सुख का स्रोत है, जिससे तुम सब उत्तम, वस्तुओ का पोषण करती हो, हमारे प्रतिपालन के लिए हमको प्रदान करो।' इन मन्त्रा से यह बात निर्विवाद रूप से स्थिर होती है कि यह किसी मनुष्य के हृदय के उद्गार हैं। एतत् सम्बन्धी शका को दूर करने के लिए मैं एक और मन्त्र देता हू।

हिरण्यस्तूप सवितयथा त्वाङ्गिरसो जुह्वे वाजे अस्मिन् ।
एवा त्वार्चन्नवसे वन्दमान सोमस्येवाशु जागराहम् ॥
(ऋक्—१०, १४९, ५)

'हे सविता, जिस प्रकार अगिरा के पुत्र हिरण्यस्तूप ने इस अग्नि म आपको आहुति दी थी उसी प्रकार उनका पुत्र मैं अर्चन आपकी वन्दना करता हूँ। जैसे लोग सोम की रक्षा मे जागते रहते हैं उसी प्रकार मैं आपकी सेवा मे जागृत हूँ।' यहा इस बात म कोई सन्देह हो ही नहीं सकता कि इस मन्त्र के ऋषि अर्चन मन्त्रद्रष्टा नहीं हैं।

अस्तु, ऋषि लोग मन्त्रद्रष्टा रहे हो या मन्त्रकर्ता, वेद मन्त्र उनके ही द्वारा अवतरित हुए हैं और उनका अवतरण मनुष्य समाज मे और मनुष्यो के लिए हुआ था। जो ग्रन्थ मनुष्या के हित के लिए बनाये जायगे उनका रचयिता चाहे कोई भी हो उनमे ऐसी बात निश्चय ही आयेगी जिनमें मनुष्या की अभिरुचि होती है और जिनके द्वारा मनुष्या का प्ररोचन हो सकता है। मनुष्य दिक् और काल मे कही न कही रहते हैं, किसी प्रकार की जलवायु म पलते हैं। यह कैसे सम्भव है कि उस जलवायु का, वहा की ऋतु का, वहाँ के प्राकृतिक पर्य्यावरण का, कुछ चर्चा न हो? उपदेष्टा ईश्वर हो या मनुष्य, परन्तु हिमाच्छादित ध्रुव प्रदेश मे रहने वालो तथा जलते बालू से आच्छादित मरु देश के निवासियो को उपदेश देने के लिए भाषाओ म अन्तर होगा ही। यदि कोई ऐसी ऐतिहासिक घटनायें हुई होगी जिनसे जन मानस प्रभावित हुआ होगा तो किसी न किसी रूप म उनका भी चर्चा करना ही होगा। बाइबिल, कुरान, अवेस्ता, इन सब की भाषा काव्यामय है। यही अवस्था वेद की है।

शुद्ध याजुष मंत्रो को छोड़कर, जो गद्यात्मक हैं, वेद पद्यात्मक है। साम रूप मे वेद मंत्र गाये भी जाते है। वेद के प्रत्येक पाठक को यह मानना होगा कि वेद शुष्क पद्य नही है, काव्यमय है। काव्य कहने का तात्पर्य यह है कि वह रसात्मक है। वेद मंत्रों से रस का उद्बोध होता है। रस जगानेवाली भाषा में शब्दो के ध्वनितार्थों और व्यंग्यार्थों से काम लिया जाता है। अनेक प्रकार की लक्षणाओं का व्यवहार होता है। काव्यमयी रचना प्रायः अलंकार-बहुला होती है। वेद मंत्रो मे अनेक जगह न, इव जैसे शब्दो का उपयोग करके उपमाओं से काम लिया गया है। यह आश्चर्य की बात ही होती यदि ऐसी अवस्था में वेदमंत्रों में प्राकृतिक और मानस अनुभूतियो या ऐतिहासिक घटनाओ का चर्चा न होता। ऐसा चर्चा करने मे कवि को शब्दो का व्यवहार ऐसे अर्थों मे करना पड़ता है जो लोक में सामान्यतया प्रचलित नहीं होते। लौकिक भाषा मे भी मनुष्यो को सिंह, वृष, ऐसी उपाधियाँ दी जाती है। वेद में भी देव आदि शब्द ऐसे अर्थो मे प्रयुक्त हुए हों तो कोई आश्चर्य की बात नही है।

एक और बात ध्यान मे रखने की है। कोई भी समाज हो उसके सब मनुष्य एक ही शारीरिक, बौद्धिक या सांस्कृतिक स्तर पर नही हुआ करते। उनके आध्यात्मिक और दार्शनिक स्तरो में भी बहुत अन्तर होता है। हम अपने समाज में इस बात को प्रत्यक्ष रूप से देख सकते है कि अपने को हिन्दू कहनेवालो मे ऐसे भी लोग है जिनके लिए पौत्तलिक शब्द उपयुक्त है। यदि वे किसी मंदिर मे जाते है तो उनके लिए वहाँ प्रतिष्ठित पत्थर या धातु का टुकड़ा ही पूजास्पद होता है। ऐसे लोग उस जगह की भी पूजा करते हैं जहाँ किसी तथोक्त साधु का शरीर गड़ा होता है। किसी बाँस के टुकड़े की भी उपासना करते हैं, किसी पशु के प्रति भी नम्रीभूत होते हैं। उसी मंदिर मे ऐसे लोग भी जाते हैं जो तत्रस्थ मूर्ति को प्रतीक मात्र मानते हैं। वे मूर्ति के रूप में अपने उपास्य की स्तुति करते हैं। उसके गुणो के प्रति उनकी श्रद्धा है। दोनो प्रकार के मनुष्य एक ही स्तोत्र पढ़ते है, परन्तु उस स्तोत्र के वाच्यार्थ उनके लिए भिन्न भिन्न होते है। तीसरे मनुष्य को मूर्ति की भी आवश्यकता नही होती। वह अपने उपास्य को धारणा के द्वारा अपने चित्त मे ही बैठाता है।

जो बात हिन्दुओं के लिए कही गई है वह और लोगों के लिए भी चरितार्थ

है। जो अवस्था आज है वह आज से सहस्रों वर्ष पहिले भी रही होगी। अपने को आर्य्य कहने वाले और इन्द्र आदि की उपासना करनेवाले सब लोगों का आध्यात्मिक स्तर एक न रहा होगा। एक ही मंत्र, एक ही स्तोत्र, एक ही शब्द, एक ही नाम उनके लिए अलग अलग अर्थ रखते होंगे। आर्य्य संस्कृति में जो लोग थोड़े ही काल से दीक्षित हुए होंगे उनके लिए इन्द्र गरज कर पानी बरसने वाले बादल या स्तनयित्नु, कड़ककर गिरनेवाली बिजली, का नाम होगा। किसी और संस्कृत बुद्धिवाले के लिए इन्द्र उस शक्ति का नाम होगा जो बादल और बिजली को प्रचालित करती है। किसी दूसरे के लिए इन्द्र उस परमात्मा का नाम होगा जो अनेक नामों से, अनेक रूपों से, इस विश्व में व्याप्त है, जो सर्वरक्षक है, सर्वशक्तिसम्पन्न है, सर्वसाक्षी है। किसी योद्धा के लिए इन्द्र असुरों का विजेता होगा, तथा किसी साधक के लिए वह उन व्यक्तियों का प्रधान होगा जो अदृश्य हैं, जो जीवों के कल्याण में रत रहते हैं, जो आततायी को दंड देकर सन्मार्ग पर ले आते हैं। इन सभी प्रकारों के मनुष्य अपने को आर्य्य कहते होंगे, इन्द्र और देव जैसे शब्दों का व्यवहार करते होंगे। किस स्थल पर कौन सा अर्थ रखना चाहिए यह निष्पक्ष बुद्धि की अपेक्षा करता है। न तो सब जगह स्थूल अर्थ से काम चल सकता है, न सर्वत्र सूक्ष्म दर्शनसम्मत अर्थ ही लगाया जा सकता है।

इस पुस्तक में मैंने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि आर्य्य लोग प्रायः कहीं विशेष प्रकार के व्यक्तियों की उपासना करते हैं जिनकी ओर मैंने ऊपर के अनुच्छेद में सब से अंत में संकेत किया है। कम से कम उनमें जो सुसंस्कृत लोग थे उनको ऐसा विश्वास था कि विश्व में ऐसे उदात्त प्रकार के प्राणी हैं जो अदृश्य रहते हुए भी मनुष्य के हितसाधन में निरंतर लगे रहते हैं। उनके लिए देव शब्द व्यवहार में आता था।

देव शब्द को बाइबिल या कुरान के फरिश्ता या एंजिल शब्द के समानार्थक नहीं माना जा सकता। इस्लाम या यहूदी धर्मों के अनुसार फरिश्तों की सृष्टि ईश्वर ने विशेष प्रकार से और विशेष कामों के लिए की थी। परन्तु देवगण वस्तुतः और जीवों से भिन्न नहीं हैं। केवल अपने तप के द्वारा उन्होंने अपने को ऊँचे पद पर पहुँचाया है। यह पद नित्य नहीं है। देवत्व मोक्ष से नीचा है।

देवत्व के अन्त होने पर कुछ देवगण जिन्होंने अपने देवत्व काल मे विशेष सावना की है मुक्त हो जायंगे। शेष को फिर जन्म लेना होगा। ऐसे ही देवों को आजान देव या साध्य देव कहते हैं। कुछ काल के लिए सत्कर्म्म के वल पर दूसरे मनुष्य भी देवत्व प्राप्त कर लेते है, उनको कर्म्म देव कहते हैं। उपासना साध्य देवों की ही की जाती है। वह अपने तप के वल से जिन शक्तियो का उपार्जन कर चुके हैं उनमे इतरद् जीवो को लाभ पहुँचा सकते हैं। मुख्यतया यही लोग आर्य्यो के उपास्य थे और उन्ही की सूची मे काल पाकर परिवर्तन हुए। उसी परिवर्तन को इस पुस्तक मे विकास संज्ञा दी गई है।

इस स्थल पर कुछ शब्द पुराणो के सम्वन्ध मे भी कहना आवश्यक प्रतीत होता है। मूल पुस्तक मे जो लिखा गया है उससे किसी को यह भ्रम हो सकता है कि मैं पौराणिक वाङमय को नितान्त हानिकारक और दूषित मानता हूँ। वस्तुतः यह वात नही है। ऐसा कहा गया है कि आत्मा पुराणम् वेदस्य— पुराण वेद की आत्मा है। यह वात यथार्थ है। मैंने जो कुछ आपत्ति की है वह पुराणो के वर्त्तमान रूप पर। वहुत से विद्वानो का ऐसा मत है कि पुराणो का मूल कोई एक ग्रन्थ रहा होगा। सम्भव है उसके रचयिता व्यास ही रहे हो। उसी मूल पुराण मे एक ओर तो काट छाँट करके और दूसरी ओर वहुत सी नयी वातो का समावेश करके उन ग्रन्थों की सृष्टि की गई हो जो आजकल पुराण और उपपुराण के नाम से प्रसिद्ध है। उस मूल पुराण मे क्या था इसको जानने का सम्भवत. आज कोई सावन नही है। परन्तु इतना तो प्रतीत होता है कि वह पुस्तक उस प्रकार की न रही होगी जैसे कि आजकल के इतिहास ग्रन्थ होते हैं।

सावारणत. इतिहास की पुस्तको मे घटनाचक्र का वर्णन होता है। इतिहास का लेखक इस वात का प्रयत्न करता है—कम से कम यह आशा की जाती है कि वह इस वात का प्रयत्न करेगा—कि घटनाओ का यथावत् वर्णन करे। घटना शब्द का व्यवहार यहाँ व्यापक अर्थ मे हुआ है। जनता की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सास्कृतिक व्यवस्था भी इस शब्द के अन्तर्गत है। जहाँ तक पुराणो को देखने से प्रतीत होता है, मूल पुराण के लेखक का लक्ष्य इससे कुछ भिन्न था। रामायण और महाभारत किसी हद तक इस दिशा मे चलते हैं।

इसीलिए उनको प्राचीन काल से ही इतिहास कहा गया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि पुराणों के रचयिता ने अपने सामने कुछ उस प्रकार का लक्ष्य रखा था जिससे आजकल कम्युनिस्ट विद्वान् प्रेरित हुए प्रतीत होते हैं। इन विद्वानों के सामने एक सिद्धान्त है, जिस पर उनका अटल विश्वास है। उनका यह दृढ़ मत है कि मानव समाज में जो कुछ भी विकास हुआ है उसका नोदन आर्थिक नियमों ने किया है। राजनीति और अर्थ नीति ही नहीं, सामाजिक व्यवस्था और शिक्षा ही नहीं, वरन् धर्म और दर्शन के पीछे भी आर्थिक नियम काम करते हैं। उनके इस सिद्धान्त को इतिहास की आर्थिक मीमांसा कहते हैं। वह घटनाओं का चर्चा करते हैं परन्तु इस प्रकार कि चर्चा के द्वारा इस सिद्धान्त का निरूपण हो। घटनाचक्र में उनको यही सिद्धान्त काम करता देख पड़ता है। घटनायें गौण हैं और उनकी महत्ता इतनी ही है कि उनके द्वारा सिद्धान्त का रूप स्पष्ट किया जा सकता है। कुछ ऐसा ही लक्ष्य मूल पुराण के रचयिता के सामने भी रहा होगा, यद्यपि उनकी आस्था जिस सिद्धान्त पर थी वह कम्युनिस्ट सिद्धान्त से नितान्त भिन्न था। ऐसा लगता है कि वह 'यतो धर्मस्ततो जयः' धर्म की ही विजय होती है, इस सिद्धान्त की पुष्टि में ऐतिहासिक घटना चक्र को दिखलाना चाहते थे। उनके लिए भी घटनाओं का महत्त्व गौण था, उनकी सत्ता और महत्ता केवल उदाहरण के रूप में थी। सर्वत्र यही दिखलाना था कि अन्त में विजय धर्म की हुई। इसलिए घटनाओं का वर्णन है भी तो बहुत ही सूक्ष्म रूप में। प्रायः मूल पुराण में उस समय तक की घटनाओं से काम लिया गया होगा जो उसकी रचना काल तक हो चुकी होंगी। पीछे से जब उसके कई संस्करण हुए तो और भी घटनायें जोड़ी गईं।

गुप्त साम्राज्य के प्रतापसूर्य्य के ढलने के साथ साथ पुराण लिखने का काम भी प्रायः समाप्त हो गया। मुख्य पुराण प्रायः लिखे जा चुके थे। देश छोटे छोटे राज्यों में बँट गया। न तो इतिहास, न भूगोल का व्यापक ज्ञान रह गया। परन्तु मुख्य पुराणों ने फिर भी मूल पौराणिक मर्य्यादा को कुछ हद तक निबाहा। बात केवल इतनी हुई कि न तो वह घटनाओं का पूरा वर्णन देकर इतिहास कोटि तक पहुँच सके, न 'यतो धर्मस्ततोजयः' की पुष्टि ही कर सके।

इसका एक मुख्य कारण था ये पुराण पथभ्रष्ट हो गये। इन्होंने

अपने को साम्प्रदायिकता में उलझा दिया। प्रत्येक पुराणकार किसी देव-देवी की उपासना का प्रचारक बन गया और इस प्रकार के कार्य के लिए दूसरे देव-देवियों की निन्दा करना भी आवश्यक समझा गया। परिणाम यह हुआ कि धर्म्म के स्वरूप का निरूपण न हो सका, फिर उसकी जय किस प्रकार दिखलायी जा सकती थी? परमतदूषण की स्पर्द्धा इतनी आगे बढ़ी कि सभी देव मूर्ख, लोभी, कामी, अपमार्गगामी और निर्लज्ज बना दिये गये। यदि मूल वैदिक उपासना तक अपने को सीमित रखा जाता तो यह बात न होने पाती। कहने को सबने ही अपने को श्रुति का अनुयायी घोषित किया परन्तु पदे-पदे श्रुति की निस्सारता और निरर्थकता प्रतिपादित की गई।

पुराणों मे बहुत सी उपयोगी सामग्री है जिसका अभी पर्याप्त रूप से अध्ययन भी नहीं हुआ है। इस विषय में शोध की अपेक्षा है। इसमें कोई सन्देह नही है कि उनमे ऐसी सामग्री भरी पड़ी है जिससे हमारे देश के मध्यकालीन और प्राचीन इतिहास पर बहुत प्रकाश पड़ सकता है। इतना ही नहीं, आर्य्य जाति के सम्बन्ध में ऐसे बहुत से ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है जिसका सम्बन्ध आज से कई सहस्र वर्ष पहिले के जीवन से है और जो अब विस्मृतप्राय हो गया है। यह वह बातें हैं जिनके समुच्चय ने उस आर्य्य संस्कृति को जन्म दिया था जिस पर आज भी हम गर्व करते हैं।

दुःख का विषय यह है कि पुराणों मे उपादेय बातों के साथ साथ ऐसी बहुत सी बातें परिलक्षित होती हैं जो उनके पठन पाठन की ओर से अरुचि पैदा कर देती हैं। पुराणों के सम्बन्ध मे आगे के अध्यायों मे जो कुछ लिखा गया है उसको इसी पृष्ठिभूमि में देखना चाहिए।*

---

*आनन्द के वल्लभ भाई विद्यापीठ के डा० ए० वी० पण्ड्या ने 'आर्य्यों का भारत आगमन' शीर्षक निबन्ध लिखा था। इस भूमिका के लिखने मे मुझको उससे जो सहायता मिली है, उसके लिए मैं डा० पण्ड्या का अनुगृहीत हूँ।

प्रथम खण्ड

वैदिक काल

पहला अध्याय

वेद

हिंदू समाज की जो कुछ विशेषताएँ हैं, हिंदू सस्कृति की जो मूल-भूत मान्यताएँ हैं, उन सब का आधार और उद्गम वेद है, यह सवमान्य सिद्धात है।

कहने का यह तात्पय्य नही है कि आज के दिन जो लोग हिंदू कहलात हैं उनकी सस्कृति का वैदिक सस्कृति कह सकते हैं। सस्कृतिया अपरिवतनशील नही होती। अपन सहस्रा वप के इतिहास मे भारत न बहुत से उतार चढाव, बहुत से परिवतन देखे हैं। यहाँ कभी वह लोग रहत थे जो अपन को आय कहते थे। पर अकेले वह लोग ही इस देश के निवासी नही थे। उनके सिवाय वह लोग भी यहाँ बसते थे जिनको द्रविड कहना उचित होगा। इन दोना के अतिरिक्त बहुत बडी सख्या उन लोगो की भी थी जिनके वशज गाड, भील, काल आदि नामो से पुकारे जाते हैं। इन सब के अपने रहन सहन के ढग थे, अपने विश्वास थे, अपनी सस्कृतियाँ थी। एक देश के रहने वाला का एक दूसरे से प्रभावित होना स्वाभाविक था और इस पारस्परिक आदान प्रदान के परिणाम स्वरूप एक मिली-जुली सस्कृति का उदय होना भी स्वाभाविक था। इस सस्कृति के मुख्य अवयव आर्य्यों और द्रविडो के जीवन से आये, यद्यपि आर्य्यों की देन का अश बडा था। यह मिलीजुली सस्कृति ही हिंदू सस्कृति का पूव रूप थी।

पाश्चात्य विद्वाना ने यह मत फैलाया कि आर्य्य मध्य एशिया के मूल निवासी थे। उन्होने भारत पर आक्रमण किया और यहाँ के आदिम निवासियो का हरा कर यही बस गये। आर्यों के आक्रमण के आगे आदिवासी पीछे हटते गये और अन्त म उनको जगलो और पहाडो में जाकर शरण मिली। मुझे यह मत

समीचीन नही प्रतीत होता। इसके लिए पुष्ट प्रमाण नही है। मनुष्य जाति कब कहाँ प्रकट हुई, कोई नही जानता, आज से लाख पचास सहस्र वर्ष पूर्व कौन कहाँ रहता था यह भी निश्चय के साथ नही कहा जा सकता, पर यह निश्चित है कि जिस समय हमको आर्य्यों का सबसे पहिले परिचय मिलता है उस समय वे भारत मे ही रहते थे, सप्तसिन्धव प्रदेश के निवासी थे। उनको इस बात की कोई स्मृति नही थी कि हम लोग कही बाहर से आये है। वे अपने को विदेशी विजेता के रूप मे नही देखते थे। अथर्ववेद में पृथिवी सूक्त नाम का प्रसिद्ध सूक्त है जिसमे मातृभूमि की प्रशंसा और वदना की गयी है, उसमें भी यही कहा गया है कि यही वह भूमि है जिसमे हमारे पूर्वज रहते थे। अत. ऐसा मानना ही ठीक प्रतीत होता है कि आर्य लोग भी इस देश के मूल निवासी थे।

देश पर कई बार आक्रमण हुए। शक, हूण, पठान और मुगल आये। प्राय: जो आया यहाँ बस गया। सब के अपने अपने धार्मिक विश्वास थे, रहन सहन के पृथक ढंग थे, संस्कृतियाँ थी। आदान प्रदान का क्रम चलता रहा। कुछ लोग हिन्दू समाज के अविच्छेद्य अंग बन गये, कुछ अलग रहे। परन्तु संस्कृतियो का संपर्क जारी रहा और उसके फलस्वरूप उस भारतीय संस्कृति का जन्म हुआ जिस पर प्रत्येक भारतीय गर्व करता है। ज्यो ज्यो देश मे भावनात्मक एकता की वृद्धि होगी त्यो त्यो भारतीय संस्कृति अधिक विकसित और पुष्ट होगी।

परन्तु यह बात भुलाई नही जा सकती कि भारतीयो मे बहुत बडी संख्या उन लोगो की है जो अपने को हिन्दू कहते है। जो इस्लाम और ईसाई धर्मो के अनुयायी हैं उनमे से भी बहुत बड़ी सख्या हिन्दू कुलो से ही आयी है। अत: परम्परागत हिन्दू सस्कारो, विश्वासो, आचारो का देश मे प्राधान्य है। भारतीय संस्कृति की आधारशिला हिन्दू सस्कृति ही है। अनेक छोटी बड़ी नदियो के मिलने से गगा का प्रवाह बना है। सब एक दूसरे से ऐसा घुल-मिल गयी है कि उनके जलों की पृथक् सत्ता का अब कहीं पता नही चलता। परन्तु इस जल-समूह का आदि स्रोत तो वही पावनधारा है जिसे भगीरथ पृथिवी पर लाये थे। उसी ने गंगा को गगा बनाया है, यो नदियाँ तो बहुत हैं।

इस हिन्दू संस्कृति का परिचय उस वाङमय से मिलता है जिसकी भाषा

संस्कृत है। संस्कृत मे भी सहस्रों ग्रंथ हैं जो हिन्दू, मुख्यत आर्य्य, जीवन के विभिन्न अगो पर प्रकाश डालते हैं, परन्तु इन समस्त पुस्तकों से प्राचीन और प्रामाणिक वेद हैं। यह सर्वविदित है कि वेद पृथिवी की सबसे प्राचीन पुस्तक है।

ऐसा माना जाता है कि दो प्रकार की पुस्तकों के समुच्चय को वेद कहते हैं सहिता और ब्राह्मण। कई विद्वान् ब्राह्मण ग्रंथो को वेद सज्ञा नही देते। पर सहिताओ के सम्बन्ध मे कोई मतभेद नही है। सहिताएं कहने को तो चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद, परन्तु वस्तुत इनको पाँच कहना चाहिए क्योंकि यजुर्वेद की दो पृथक् सहिताएं हैं कृष्ण और शुक्ल। वेद की सहिताओ मे ऋग्वेद का प्रमुख स्थान है, वह सबसे प्राचीन है और उसकी ही छाया पर्याप्त मात्रा मे दूसरी सहिताओ पर पडी है। वह दस मडलो मे विभक्त है और प्रत्येक मडल मे बहुत से सूक्त हैं। सूक्त मत्रो के समूह होते हैं। ऋग्वेद मे लगभग साढ़े दस सहस्र मत्र हैं। प्राचीन आर्य्य जीवन की जितनी अच्छी झलक ऋग्वेद मे मिलती है उतनी अन्यत्र अलभ्य है।

प्रस्तुत पुस्तक मे हिन्दू देव परिवार के विस्तार का अध्ययन करना है। इस अध्ययन को हिन्दू सस्कृति के आदिकाल अर्थात् वैदिक काल से आरम्भ करना होगा। वेदो मे देवो की चर्चा प्रचुर मात्रा मे है। यह देखना होगा कि आर्यों की दृष्टि मे देवो का क्या स्वरूप था।

वैदिक काल कब था, वेद आज से कितने वर्ष पूर्व की बात करते हैं, इस विषय की ओर भी दृष्टिपात कर लेना अप्रासगिक न होगा। पाश्चात्य विद्वान् कहते हैं कि वैदिक काल अधिक से अधिक ईसा से १५०० वर्ष पूर्व जाता है, अर्थात वह आजकल से ३५०० वर्ष पूर्व के आगे नही जाता। इस कथन के लिए कोई प्रमाण नही है। पश्चिमी विद्वान, चाहे वह बहुत कट्टर ईसाई न भी हो, बाइबिल से प्रभावित होता ही था। वह बचपन से उसी वातावरण मे पला था। बाइबिल के अनुसार ईश्वर ने ईसा से लगभग ६००० वर्ष पूर्व सृष्टि की थी। अत सारा इतिहास ८००० वर्षों के भीतर भरना था। मिस्र, बैबिलन, यहूदी सभ्यताओ के अवशेष सामने थे। सब बातो को सोचकर उन लोगो ने भारतको

४००० वर्ष दे दिये। मिस्र की प्राचीनता कम से कम ६००० वर्ष तक जाती है परन्तु भारत को इतना पुराना मानना अभीष्ट नही था।

परन्तु वेदो का भीतरी साक्ष्य इसके बहुत पीछे जाता है। यह सभी आलोचक मानते है कि ऋग्वेद मे बहुत उत्कृष्ट कोटि की कविता मिलती है। ऐसी कविता यकायक नही मिल जाती। सैकड़ों वर्षो की साहित्यिक प्रगति और साधना के बाद ऊँची कविता, भाव और भाषा से पुष्ट रचना, लिखी जा सकती है। फिर अनेक बार अपने से पहिले के लोगो को याद किया गया है : अग्निः पूर्वेभिऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत—अग्नि की उपासना पहिले के ऋषि भी करते थे और नूतन ऋषि भी करते है। स्थान-स्थान पर न. पूर्वेपितरः हमारे पूर्वपितृगण, नवग्व, दशग्व, (मनव.) मनुओं का चर्चा होता है। इन मनवः शब्द को ही लीजिए। ऋग्वेद मे यह स्मृति शेष है कि उस काल के पहिले कई मनु हो गये है। मनुकाल के सम्बन्ध मे कई मत हैं। उनमे सबसे सीधा मत इस प्रकार है :

चान्द्र वर्ष मे ३५५ और सौर वर्ष मे ३६५ दिन होते है। इस प्रकार दोनों मे १० दिन का अन्तर होता है। हम दोनो को मिलाने के लिए प्रति तीसरे साल ३० दिन अर्थात् एक मास बढा देते हैं। यदि ऐसा न किया जाय तो पर्वो मे व्यतिक्रम पड जाय। वही पर्व कभी जाडे, कभी गर्मी, कभी वर्षा मे पडा करें। परन्तु यदि तीसरे साल अधिमास न जोड़ा जाय तो ३५५ सौर वर्षो मे दोनो वर्ष आप ही मिल जायगे। कुछ शास्त्रकारो के मत से एक मन्वन्तर, एक मनु का शासन काल, ३५५ वर्षो का होता है। १४ मन्वतरो का एक कल्प होता है। इसलिए एक कल्प मे ४९७० वर्ष हुए। २, २ मनुओं के बीच में २, २ वर्ष की सन्धि होती है। इस प्रकार ३० वर्ष सधि के जोडकर एक कल्प ५००० वर्ष का होता है। दूसरे शास्त्रकारो के मत से एक मन्वन्तर ३,०२,४०,००० वर्षो का होता है। यह संख्या ३५५ से तो बहुत बडी है। इसको १४ से गुणा करने से कल्प की आयु आ जायगी। वेद मे 'मनव.' (मनुओ) का चर्चा करते समय मन्वन्तर का कौन सा मान दृष्टिगत था, हम निश्चित रूप से नही कह सकते, परन्तु यदि ३५५ वर्ष भी मान लिया जाय तो अपने समय से ३,४ मन्वन्तर अर्थात् कम से कम १२,१३ सौ वर्ष पहिले की ओर संकेत किया गया होगा।

भगवद्गीता मे श्रीकृष्ण अपनी विभूतियो का चर्चा करते हुए अर्जुन से कहते हैं

मासाना मार्गशीर्षोऽह ऋतूना कुसुमाकर ।

'मैं महीनो मे मार्गशीर्ष और ऋतुओ मे वसन्त हू।' पुराने भाष्यकारो का इधर ध्यान नही गया था। परन्तु बहुत खोज करके लोकमान्य तिलक ने यह निष्कर्ष निकाला कि वेदो मे उस समय की स्मृति सुरक्षित है जब मार्गशीर्ष महीने मे वसन्त होता था। आजकल तो हम वसन्त पचमी को माघ मे मनाते हैं और वसन्त ऋतु चैत्र मे होता है। ज्योतिष शास्त्र के अनुसार मार्गशीर्ष मे वसन्त आज से १० सहस्र वर्ष पहिले होता था।

कम से कम एक सकेत इससे भी पुराने काल की ओर है। ऋग्वेद के दशम मडल के ८५वें सूक्त का १३वां मत्र कहता है

सूर्याया वहतु प्रागात् सविता यमवासृजत ।
अघासु हन्यते गावोऽर्जुन्यो पर्युह्यते ॥

'सूर्य ने अपनी लडकी सूर्या को जो सामग्री विवाह मे दी थी वह आगे चली। अघा (मघा) नक्षत्र मे तो उसको ले चलने वाले बैलो को पीटना पडता है, अर्जुनी (फाल्गुनी) नक्षत्र मे गाडी वेग से चलती है।'

बैल धीरे चले होगे, इसलिए उनको पीटना पडा होगा, उनके तेज चलने से गाडी वेग से चली होगी। पर इस सब का अर्थ क्या है? पुराने भाष्यकारो का इधर ध्यान नहा गया। हाल मे कुछ भारतीय विद्वानो ने इस प्रश्न पर विचार किया है। उनका कहना है कि इस मत्र मे एक ज्योतिष दृश्विषय का वर्णन है।

आजकल २२ दिसम्बर को दिन सबसे छोटा होता है। उस दिन सूर्य मूल नक्षत्र मे होता है। उसके बाद उसकी उत्तरायण गति आरम्भ हो जाती है। किसी समय अयन परिवर्तन उस समय होता था जब सूर्य मघा मे होता था। पूर्वा फाल्गुनी से गति बदल जाती थी। मघा मे सूर्य वसन्त मे होता है। मघा

के वाद उत्तरायण का आरम्भ होना, यह वात आज से १७,००० वर्ष पहिले होती थी। यह मंत्र १७,००० वर्ष पुराना है, ऐसा नही कहा जाता; परन्तु इसमे उस प्राचीन काल की स्मृति है। पृथिवी पर उस समय भारत के सिवाय अन्य कई देशो मे भी मनुष्य थे। मुख्य वात यह है कि जो लोग भारत में रहते थे उनको ज्योतिप का इतना ज्ञान था कि वे ग्रहो की गतियों से परिचित थे और नक्षत्रों को पहिचानते थे।

प्राचीन अनुभूतियो के और भी प्रमाण वेद में है। आज से लगभग २५-३० सहस्र वर्ष पूर्व भारत में कई भूगर्भिक उपद्रव हुए। हिमालय उन दिनों समुद्रमग्न था, विन्ध्य वहुत ऊँचा था। धीरे-धीरे हिमालय ऊपर उठा, समुद्र हटे, भूमि ऊपर आयी। भयानक भूकम्प आये। शनैः शनैः पृथ्वी स्थिर हुई, पर्वत भी स्थिर हुए। वेद मे उस समय की घटनाओ की ओर कई स्थलों पर संकेत हैं। उदाहरण के लिए दूसरे मडल मे १२वें सूक्त का दूसरा मंत्र कहता है :

> यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद्यः पर्वतान् प्रकुपितां अरम्णात् ।
> यो अंतरिक्षं विममे वरीयो यो द्यामस्तभ्नात्स जनास इन्द्रः ।

'हे लोगो, जिसने व्यथित (हिलती डुलती) पृथिवी को दृढ किया, जिसने कुपित, चचल, क्षुब्ध पर्वतो को शान्त किया, जिसने अन्तरिक्ष को फैलाया, जिसने आकाश को स्थिर किया, वह इन्द्र हैं।'

आर्य्यों के निवास स्थान के पास समुद्र था, इसका भी स्पष्ट उल्लेख है। करिक्रतु नाम के ऋषि के सम्वन्ध मे कहा गया है—

> उभौसमुद्रावाक्षेति, यश्च पूर्व उतापरः ॥
> (ऋक् १०, १३६, ५॥)

'वह पूव और पश्चिम, दोनो समुद्रों तक जाते हैं।'

ऐसे स्थलो का अर्थ लगाने मे पाश्चात्य विद्वानो ने वड़ी धाँधली की है। उन्होने यह मान लिया है कि आर्य्य लोग मध्य एशिया से आये थे। वहाँ कोई समुद्र नही है, इस समय पंजाव मे भी जहाँ वाहर से आकर आर्य्य लोग पहिले रुके

होंगे, कोई समुद्र नही है। अत जहाँ कही समुद्र या उसका पर्य्यावाची कोई शब्द आता है यूरोपियन विद्वान उसका अर्थ प्राय नदी कर देते हैं। परन्तु यह अर्थ ठीक नही है। वेद के शब्द समुद्र के लिए यथार्थ बैठते हैं।

अनारम्भणे तदवीरयेथामनास्थाने अग्रभणे समुद्रे।
यदश्विना अहयुर्भुज्यमस्त शतारित्रां नावमातस्थिवांसम् ॥
(ऋक १, ११६, ५)

यहाँ कहा गया है कि 'ऐसे समुद्र मे जो आलम्बनहीन है, जिसमे टिकने की जगह नही है, जिसमे हाथ से पकडने की कोई वस्तु नही है, अश्विया ने भुज्यु को सहारा दिया और सौ डाँडे की नाव पर बैठा कर घर भेज दिया।' अनावलम्बन आदि वर्णन समुद्र का ही हो सकता है और सौ डाँडा की नाव समुद्र मे ही चलायी जा सकती है। वरुण की प्रशसा मे (ऋक् ५, ८५, ६) मे कहा गया है

इमाम नु कवितमस्य माया महीं देवस्य नकिरादधर्ष।
एक यदुदक्ना पृणन्त्य नीरा सिञ्चन्तीरवनय समुद्रम् ॥

'यह देव वरुण की महती माया है कि सब नदिया बराबर जल डालते हुए भी समुद्र को नही भर सकती।' यहा भी 'नदी' जैसा अर्थ नहीं लगाया जा सकता।

पूर्व पश्चिम के समुद्रो की चर्चा तो है ही, दक्षिण के समुद्र का भी उल्लेख है जिसमे सरस्वती गिरती थी। पर वे सब समुद्र कहाँ गये? आज तो सप्त-सिन्धव[1] के किसी ओर भी समुद्र नही है। इस प्रश्न का उत्तर भूगर्भवेत्ता ही दे सकते है। इस शास्त्र के ज्ञाता अब तक की शोध के आधार पर जो कुछ कहते हैं

---

१ ऋग्वेद काल मे आर्य्य लोग भारत के जिस भूखड पर रहते थे उसका सप्तसिन्धव, सात नदियों वाला प्रदेश, कहते थे। ये सात नदियाँ थीं सरस्वती और सिन्धु तथा उनके बीच मे सतलज, व्यास, रावी, चनाब और झेलम।

उसका निचोड़ नीचे के अवतरण मे दिया जा रहा है जिसे मैं अपनी पुस्तक 'आर्य्यो के आदि देश' से दे रहा हूँ। ये वाक्य पुस्तक के परिशिष्ट (ट) से उद्धृत किये जा रहे हैं :

"विद्वानो की अब तक की खोज के अनुसार प्राचीन काल मे उत्तर भारत की जो भौगर्भिक अवस्था थी, उसका वर्णन डी० एन० वाडिया ने 'जिआलोजी आव इण्डिया' मे किया है। इस सम्बन्ध मे डाक्टर बीरबल साहनी का 'करेण्ट सायन्स' के अगस्त १९३६ के अक मे 'दि हिमालयन अपलिफ्ट सिस दि एड्वेन्ट आव मैन' · इट्स कल्ट—हिस्टोरिकल सिग्निफिकेंस' शीर्षक लेख और 'दि क्वार्टरली जनरल आव दि जिओलोजिकल ऐण्ड माइनिंग मेटालर्जिकल सोसाइटी आव इण्डिया' के दिसम्बर १९३२ के अक मे वाडिया का 'दि टर्शियरी जिओसिक्लाइन आव नार्थ वेस्ट पजाब ऐण्ड दि हिस्टरी आव क्वाटर्नरी अर्थ मूवमेण्ट्स ऐण्ड ड्रेनेज आव दि गैंजेटिक ट्रफ' शीर्षक लेख बहुत प्रकाश डालते है। जो लोग इस विषय का विशेष अध्ययन करना चाहते हों उन्हे यह चीजें तथा एतद्विषयक दूसरी पुस्तके देखनी चाहिए। यहाँ हम खोज के निचोड़ का जिक्र ही कर सकते हैं।

"बहुत प्राचीन काल में, मध्य एशिया के उस भाग मे, जहाँ आज हिमालय पर्वतमाला है, एक समुद्र था। इसकी चौड़ाई कम से कम ४५० कोस थी। इसको टेथिस सागर कहा जाता है। इसके दक्षिणी तट पर कुछ ऊँची भूमि थी। आसाम और काश्मीर मे उन दिनो भी भूमि थी, यद्यपि काश्मीर के बीच मे एक बड़ी झील थी। धीरे-धीरे इस समुद्र का तल ऊपर उठने लगा। यही उठा हुआ समुद्र तल हिमालय पहाड़ है। पहाड़ के उठने के साथ ही उसके दक्षिण ओर की भूमि दबती गयी। इस भूमि पर एक समुद्र लहरें मार रहा था। यह समुद्र आसाम की तलहटी से लेकर सिन्ध तक जाता था। इसके उत्तर की ओर इसके और पहाड़ के बीच मे जो भूमि थी, उसमे एक महानदी बहती थी। वह आसाम की ओर से आती थी। उसका बहाव उत्तर पश्चिम की ओर था। मखद के पास वह उस जलधारा मे मिलती थी, जो आज सिन्धु कहलाती है और यह संयुक्त जल सिन्ध प्रान्त के उत्तरी भाग मे कही समुद्र मे गिरता था। बीच मे जो समुद्र पड़ता था, उसमे कुछ तो उत्तर की ओर से मिट्टी पडती थी, कुछ दक्षिण

के उस भूभाग से, जो गोंडवाना महाद्वीप का उत्तरीय भाग था, बहकर आती थी। दक्षिण की कई नदियाँ उन दिनों उत्तरवाहिनी थीं। धीरे-धीरे यह समुद्र भर चला। पहिले तो उसमें से कई बड़ी-बड़ी झीलें बन गयीं, जिसके चारों ओर ऊँची भूमि थी। क्रमशः ये झीलें भी भर गयीं और उत्तर भारत का उत्तर प्रदेश से पूर्वीय बंगाल तक का मैदान निकल आया। इस बीच में हिमालय का उठना जारी था। राजपुताने का समुद्र अपने स्मृति स्वरूप साँभर झील को छोड़कर मरुस्थल बन गया। जो महानदी पूर्व से उत्तर पश्चिम की ओर बह रही थी उसका भी स्वरूप बदला। पहिले तो ब्रह्मपुत्र से सिंध तक एक नदी माला बना हुआ था। इसी से भूगर्भ पण्डित इसको इण्डोब्रह्म (सिंधु ब्रह्म) कहते हैं। अब बीच की भूमि के उठने से यह माला टूट गयी। सप्तसिंधव या पंजाब की नदियाँ सिंधु में मिलीं, पूर्व की नदियाँ प्रवाह की दिशा बदल कर पूर्ववाहिनी हो गयीं। ज्यों ज्यों पानी हटता गया और भूमि पटती गयी त्यों त्यों इनकी लम्बाई भी बढ़ती गयी, यहाँ तक कि गंगा जो अपने स्रोत से निकलने के थोड़ी ही दूर बाद पश्चिम की ओर घूम जाती थी आज कई सौ मील चलकर बंगाल की खाड़ी में गिरती है।"

इन बातों से यह स्पष्ट है कि जिन लोगों का जिक्र ऋग्वेद में है, जो लोग अपने को आर्य कहते थे, वे इसी देश के निवासी थे और उन्होंने स्वयं उन बड़े भौगर्भिक परिवर्तनों को देखा था जिन्होंने इस देश को उसका वर्तमान रूप दिया था। उनकी सभ्यता बहुत पुरानी थी और आज से सहस्रों वर्ष पहिले उन्होंने ज्योतिष जैसी विद्या के अध्ययन में उल्लेख योग्य प्रगति की थी। हमारा यह कहना नहीं है कि ऋग्वेद का वर्तमान रूप २०, २५ सहस्र वर्ष पुराना है, परन्तु इतना तो निर्विवाद प्रतीत होता है कि ऋग्वेद में पुरानी अनुभूतियों की स्मृतियाँ प्रतिध्वनित हो रही हैं। इन लोगों की संस्कृति का जो रूप ऋग्वेद में हमारे सामने आता है वह सहस्रों वर्षों के विकास का साक्ष्य दे रहा है।

इस ग्रंथ में देवों के सम्बन्ध में प्रभूत सामग्री भरी पड़ी है। अतः देवों के विषय में अध्ययन करने वाले को इस पुस्तक से जो सहायता मिल सकती है वह अन्यत्र कहीं नहीं मिल सकती। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हम अन्य वेद संहिताओं की उपेक्षा कर सकते हैं। ऋग्वेद से जो बातें ज्ञात होती हैं उनकी

पुष्टि अन्य वेदों से होती है। अथर्ववेद के कुछ अंश तो ऋग्वेद के समान ही पुराने प्रतीत होते हैं। सभी वेदों मे एक ही विचारधारा, आध्यात्मिक और दार्शनिक मान्यताओ का एक ही सूत्र, अनुस्यूत है। विचारो, विश्वासों और आध्यात्मिक अनुभूतियो का यह समुच्चय बहुत ही गम्भीर और सूक्ष्म है।

पाश्चात्य विद्वानो को ऐसा मानना बड़ा कठिन प्रतीत होता है कि इतने प्राचीन काल में आर्य लोग इतनी गहराई तक पहुँच चुके थे। ऐसी बात उनके अनुभव मे कही अन्यत्र नही आयी। हम विवश हैं। यदि मिस्री, यहूदी या यूनानी इतिहास आर्य्य इतिहास के समानान्तर नहीं चलते तो इनमें आर्य्यों का दोष नही है। हाँ, यह अन्वेष्य विषय हो सकता है कि आर्य्य संस्कृति ने औरों से भिन्न मार्ग क्यों पकड़ा और आर्य्यों के पूर्व पुरुषो का चित्त इतने प्राचीन काल मे पारलौकिक विचारो की ओर क्यो झुका।

देवों के सम्बन्ध में एक और जगह से ज्ञातव्य बातें, प्राप्त हो सकती थी। पारसियो के धर्म्म ग्रन्थ अवेस्ता मे भी उनका चर्चा है। यह ग्रन्थ जेन्द भाषा में है जो वैदिक संस्कृत से बहुत मिलती है। किसी समय पारसियों के पूर्वज भी दूसरे आर्य्यों के साथ ही रहते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी समय कुछ धार्म्मिक मतभेद उत्पन्न हुआ जिसकी तीव्रता इतनी बढी कि कुछ लोग समूह से पृथक होकर देश छोड़कर बाहर चले गये। आज सहस्रों वर्ष बाद उस विवाद का कारण और स्वरूप जानना कठिन है। परन्तु इतना अनुमान होता है कि उसका कुछ संबंध इन्द्र से था। ऋग्वेद मे कई स्थानो पर 'अनिन्द्रो' (इन्द्र को न मानने वालो) से युद्ध होने का चर्चा है। इन अनिन्द्रो के लिए दस्यु जैसे शब्द का व्यवहार नहीं हुआ जो अनार्यों के लिए प्रयोग मे आता था। अवेस्ता मे इन्द्र की कही प्रशंसा नही मिलती। इससे ऐसा समझा जाता है कि जो लोग इन्द्र के प्राधान्य को नही स्वीकार करते थे वे पृथक् हो गये।

स्वदेश से अलग होकर ये लोग कुछ दिनो तक इधर-उधर घूमते रहे, अन्त मे ईरान मे आकर बसे। इतस्ततः घूमते रहने का गहरा प्रभाव इनकी संस्कृति पर पडा। इनके धार्म्मिक विचारो पर पडोसियो का बड़ा प्रभाव पड़ा। पश्चिम एशिया मे जो विचार प्रचलित थे उनके अनुसार जगत् का रचयिता ईश्वर है,

परन्तु उसके काम मे निरतर बाधा डालने वाला शैतान भी बहुत शक्तिशाली है। पारसियो की भी यही मान्यता है। शैतान को, जो मनुष्य को सत्पथ से डिगाने मे निरन्तर यत्नशील रहता है, अग्रिमैन्यु कहते हैं।

अवेस्ता वेद के बराबर पुरानी पुस्तक नही है। यदि पारसी लोग स्वदेश छोडने के पहिले कोई धर्म्म सहिता लेकर चले भी थे तो यहाँ वहाँ भ्रमण करने मे वह खो गयी। वेदो में वाणी को बहुत महत्त्व दिया गया है। प्राचीन काल मे पाणिनि जैसे वैयाकरण का जन्म नही हुआ था, फिर भी व्याकरण के नियमो का बहुत ख्याल किया जाता था। भाषा नियमबद्ध हो चली थी। इसलिए धर्म्म सहिता (वेद) की रक्षा हो सकी। पारसी इस विषय मे उतने सफल न हो सके।

धार्म्मिक वैर विरोध का एक विलक्षण परिणाम यह निकला कि दो शब्दों का इतिहास ही बदल गया। बहुत प्राचीन काल मे देव और असुर समानार्थक, थे। जिसको देव कहते थे उसको असुर भी कहते थे। वेदो मे कई जगह ऐसे प्रयोग आये हैं। तीसरे मडल के ५५वें सूक्त के सभी २२ मत्रो मे देवो के महान् असुरत्व का चर्चा है। वृत्रासुर को जिसका वध इन्द्र ने किया था देव कहा गया है। परन्तु पीछे से यह परम्परा छूट गयी। देव शब्द केवल अच्छे अर्थ मे और असुर केवल बुरे अर्थ मे प्रयुक्त होने लगे। भारत मे पठान राज्य स्थापित होने के बाद फारसी का देव शब्द हमारे यहाँ आया। आज भी कहानियो मे काला देव, लाल देव के नाम सुन पडते है। देवगण के लिए हमने 'देव' कहना ही छोड़-सा दिया, 'देवताओं' कहने लगे। ईरान मे उल्टी बात हुई थी। वहाँ देव शब्द का अर्थ बुरा हो गया था। असुर अच्छा हो गया, यहाँ तक कि ईश्वर को अहुरमज्द (असुर महत्), बडा असुर, कहने लगे।

यदि यह सब परिवर्तन न हुए होते तो हमको पारसियो के धार्म्मिक वाङमय से बहुत सहायता मिल सकती थी। परन्तु धार्म्मिक विवाद और कलह ने इस द्वार को बद कर दिया।

वेदो का अर्थ निकालना बहुत सुकर नहीं है। केवल कोष और व्याकरण

से काम नहीं चलता। जैसा कि हम आगे के अध्यायों में दिखलाएगें, वेदार्थ बहुत-सा लुप्त हो गया है। यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कई स्थलों पर जान-बूझ कर ऐसी भाषा का व्यवहार किया गया है जो वास्तविक अर्थ पर पर्दा डाल देती है। व्याकरण और कोष की सहायता से जो अर्थ निकलता है वह या तो समझ में नहीं आता या देखने से ही अपर्याप्त प्रतीत होता है। ऐसा कहा भी जाता है कि वेद का अर्थ अनृषि (जो स्वय ऋषि नही है) नहीं लगा सकता।

ऋषि का पारिभाषिक अर्थ है मंत्रद्रष्टा, मत्रों को देखने वाला। भारतीय परम्परा के अनुसार ऋषि लोग मत्रकर्ता, मंत्रों के रचयिता, नहीं थे। समाधि की अवस्था मे किसी मनुष्य की बुद्धि को परमात्मा की बुद्धि से आशिक तादात्म्य प्राप्त होता था और उस दशा मे उनको जिस ज्ञान की तात्कालिक उपलब्धि होती थी उसको वह समाधि से व्युत्थित होकर शब्दों मे व्यक्त करता था। भाषा भले ही उसकी हो परन्तु प्रेरणा का स्रोत ईश्वर था। ऐसा व्यक्ति ऋषि कहलाता था। यह बात स्वभावत: पाश्चात्य विद्वानों को अमान्य है। खेद की बात यह है कि कई भारतीय विचारक भी पाश्चात्यों का अनुकरण करते हैं। अभी हाल मे ही डा० कुन्हन राजा की पुस्तक 'दि पोएट फिलासोफर्स आव दि ऋग्वेद' निकली है। उनके मत मे ऋषि लोग कवि दार्शनिक थे, ऐसे कवि थे जो दार्शनिक तथ्यो पर मनन करते थे या ऐसे दार्शनिक थे जो अपने दार्शनिक ऊहापोह को काव्यमयी भाषा का जामा पहिनाते थे। इस धारणा मे भले ही थोड़ा सा सत्यांश हो परन्तु इससे वेदार्थ पर पर्दा पड़ जाता है। सत्य की अनुभूति तर्क से नही होती। सत्य प्रतिभा मे स्वयं उदय होता है और उसका स्तर तर्क की भूमि से ऊपर होता है। सत्य को सदैव सर्वसुगम भाषा मे व्यक्त करना सम्भव नही होता, श्रेयस्कर भी नही होता। इसीलिए ऋषियो को बहुधा समाधिभाषा से काम लेना पड़ता था; सकेतों, प्रतीकों और लक्षणाओं का व्यवहार करना पड़ता था। ऐसी भाषा के भीतर प्रवेश करने के लिए तैयारी की, साधना की, आवश्यकता होती है। इसके बिना वेद का रहस्य समझ में नही आ सकता और वेद मंत्रो के ऐसे अर्थ लगाने पडते हैं जिनकी स्थूलता बराबर खटकती रहती है। एक ही उदाहरण पर्य्याप्त है। वेद मे कहा गया है कि वल नाम के असुर ने गउओं को बद कर दिया था। इन्द्र ने उसको मारकर गउओं को छुड़ाया।

भिनद्वलमङ्गिरोभिगृणानो वि पर्वतस्य दृंहितान्यैरत् ।
रिणग्रोधांसि कृत्रिमाण्येषां सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार ।।

(ऋक २, १५, ८)

'वल के द्वारा जो दृढ अवरोध रूप से पर्वत खडे किये गये थे उनको इन्द्र ने हटा दिया और वल को मार डाला।'

इस प्रकार के कथनो का यह अर्थ लगाया जाता है कि या तो यह रात के अंधकार को फाडकर सूर्य्य के उदय होने और प्रकाश रूपी गऊ के उद्धार का वर्णन है या बादलो के फटने से वर्षा के जल के उन्मुक्त होने का। हो सकता है यही अर्थ हो, पर यह शका तो उत्पन्न होनी ही है कि जिस पुस्तक को इतना ऊँचा पद दिया गया है उसमे इस साधारण प्राकृतिक दृश्यविषय का बार-बार वर्णन क्यो आता है ? इसमे कही कोई और गम्भीर अर्थ तो नही छिपा है ? यह स्मरण रखना चाहिए कि अकेले गौ शब्द के वेद मे अनेक पर्य्याय हैं, जैसे पृथिवी, रश्मि, वाक, अघ्न्या, उस्रा, उस्रिया, अही, मही, अदिति, इला, जगती और, शक्वरी। कब कौन सा अर्थ लगाया जाय, यह विचारणीय विषय बन जाता है। सर्वत्र गम्भीर आध्यात्मिक अर्थ ढूढना भूल है। परन्तु सर्वत्र स्थूल अर्थ करना भी उतनी ही बडी भूल है। वेद मे योगी का गोप्य अनुभव भी है और साधारण बोलचाल भी है।

इस भूमिका को आख से ओझल कर लेने से वेद का अर्थ नही लग सकता। यह बात तो पाश्चात्य विद्वानो के सामने भी आयी कि ऋग्वेद के दशम मडल मे नासदीय और पुरुष सूक्त जैसे कई सूक्त हैं जिनमे दार्शनिक प्रश्नो पर विचार किया गया है। उनके मत से इतने प्राचीन काल म मनुष्य ऐसे प्रश्नो पर गम्भीर विचार नही किया करता था। इस शका का समाधान यो कर लिया गया कि यह अश पीछे से जोड दिया गया है। दुःख का विषय यह है कि बहुत से भारतीय भी वेदो का अध्ययन स्वय नही करते। जो अँग्रेज़ो की लिखी पुस्तको मे पढ़ते हैं उसी पर विश्वास कर लेते है। सहिता भाग पढा नहीं जाता। यह मान लिया जाता है कि उसमे नीरस कर्म्मकाण्ड है, सूखे यज्ञ है। उपनिषद् पढे जाते हैं और यह मान लिया जाता है कि उनमे बौद्धिक विद्रोह की अभिव्यक्ति हो रही है। कर्म्मकाण्ड से ऊबकर कुछ लोगो का ध्यान दर्शन की ओर गया। उन्होने ही

उपनिषदों की रचना की, ऐसे ही लोगों ने दशम मंडल के दार्शनिक सूक्त बनाये। समाज मे प्राधान्य के लिए ब्राह्मणों और क्षत्रियों में बराबर संघर्ष रहता था : ब्राह्मणों ने कर्म्मकाण्ड अपनाया, क्षत्रिय लोग दार्शनिक विचारों मे पुरोगामी हुए।

यह सारी कल्पना निराधार है। उपनिषदों की आधारशिला संहिता है। बिना इस अंश को जाने उपनिषदों का भी रहस्य यथार्थ रूप से समझ में नही आ सकता। लोग इस बात को भूल जाते हैं कि ब्रह्मज्ञान के मुख्य प्रदीपक श्री वेदव्यास और भगवत्पाद श्रीमच्छंकराचार्य्य ने दोनो अंगों के अध्ययन का समर्थन किया है। शंकराचार्य्य ने वेदान्त दर्शन के, प्रथम सूत्र 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' के भाष्य में अथ और अतः शब्दों की व्याख्या करते हुए दिखलाया है कि संहिता भाग के ज्ञान से सम्पन्न हुए बिना मनुष्य ज्ञानकाण्ड का अधिकारी ही नही होता। दर्शन वेद के शेष अंग का विरोधी नहीं है, एक से दूसरे को बल मिलता है। इसी से कहा है "मंत्र ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्—संहिता और ब्राह्मण का ससंयुक्त नाम वेद है)।

ऋग्वेद के दशम मंडल को पीछे से जोडा हुआ मानना निराधार तो है ही, ऐसा मानने से कोई सुविधा भी नही होती। शेष नव मंडलों में भी स्थान स्थान पर गम्भीर दार्शनिक विचार बिखरे पड़े हैं। इसके सिवाय न जाने कितने ऐसे वाक्य हैं जिनका अर्थ योग शास्त्र का आश्रय लिए बिना लग ही नहीं सकता। प्रक्षिप्त कह कह कर, कहाँ-कहाँ से क्या क्या काटकर निकाला जायगा ?

मैं इसके समर्थन में वेद से कुछ अवतरण दूंगा। ये अवतरण प्रायः ऋग्वेद और अथर्ववेद से लिए गये हैं क्योंकि वेद का यह अंग प्रायः सबसे पुराना माना जाता है। देखने से ही स्पष्ट हो जायगा कि पाश्चात्य विद्वानो का सिद्धान्त यहाँ लागू नही होता।

हम इस प्रसिद्ध वाक्य से आरम्भ करते हैं—

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति

'वह पदार्थ एक है, विद्वान् उसे अनेक नामों से पुकारते हैं ।'

इस छोटे से वाक्य मे जो सत्य प्रतिपादित किया गया है वह नि सन्देह दार्शनिक है। उसे वेदान्त का निचोड कह सकते हैं। यह मत्र ऋग्वेद के प्रथम मडल के १६४वें सूक्त का ४६वाँ मत्र है। यही सत्य दूसरे दृष्टिकोण से प्रथम मडल के ७९वें सूक्त के १०वें मत्र मे व्यक्त किया गया है

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्र ।
विश्वेदेवा अदिति पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम ॥

'अदिति आकाश, अदिति अतरिक्ष, अदिति माता, वही पिता और पुत्र है, अदिति सब देवगण ह, अदिति सब मनुष्य है, अदिति वह सब है जिसका जन्म हुआ, अदिति वह सब है जिसका जन्म होगा।'

स्थूल दृष्टि से अदिति का अर्थ पृथिवी है। महर्षि यास्क के निघण्टु म इसकी गणना 'गौ' के २१ पर्य्यायो मे हुई है। 'गौ' शब्द का भी अर्थ पृथिवी है। वहाँ इन इक्कीसो शब्दो को पृथिवीनामधेयानि कहा गया है। अदिति का एक नाम देवमाता भी है। उनकी सन्तान होने स देवो के एक गण को आदित्य कहते हैं।

अदिति शब्द की ऊरी व्याख्या यहाँ अपेक्षित नही है। अदिति कुछ भी या कोई भी हो, पर यहा उसका सारे जगत् से तादात्म्य दिखलाया गया है, केवल वर्तमानकालीन जगत से नहीं, किन्तु अतीत और भविष्यत् से भी। यह कैसे माना जाय कि इस वाक्य मे दार्शनिक तथ्य निहित नही है ?

ऋग्वेद के छठे मडल के ४७वें सूक्त का १८वाँ मत्र इन्द्र के विषय मे कहता है

प्रतिरूप बभूव इन्द्रो मायाभि पुरुरूप ईयते ।

'उन्होने अपनी माया से अनेक रूप धारण किये।'

इसके साथ यजुर्वेद के इस मत्र को मिलाइये

प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तरजायमानो बहुधा विजायते ।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥

शुक्ल यजुर्वेद के नरमेधाध्याय का यह १९वाँ मंत्र है। इसके अनुसार प्रजापति गर्भ में जाते हैं। जन्म न लेते हुए भी अनेक रूपों मे जन्म लेते हैं। उनकी योनि को, वास्तविक स्वरूप को, जिसमें सब भुवन स्थित हैं धीर पुरुष देखते हैं।

इस मंत्र को देखिए। यह प्रथम मंडल के १६४वें सूक्त का ४५वाँ मंत्र है:

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि, तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति, तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥

'वाणी के चार पाद या स्थान है जिनको मनीषी ब्राह्मण जानते है। उनमें से तीन गुफा में, गुप्त स्थान में, छिपे हुए हैं, उनको लोग नही जानते। चौथी वाणी को मनुष्य बोलते हैं।'

वैयाकरणों का कहना है कि वाणी के चार पाद नाम, आख्यात्, उपसर्ग और निपात है। उदाहरण के लिए यह वाक्य लीजिए: "वाह, न्यायाधीश ने अपराधी को भली भाँति प्रताड़ित किया"। इसमें "न्यायाधीश ने" नाम है, "अपराधी को भली भाति ताड़ित किया" आख्यात है, ताड़ित के साथ लगा हुआ "प्र" उपसर्ग है और "वाह" निपात है। यह एक सरल उदाहरण है। इन शब्दो की परिभाषा व्याकरण के ग्रन्थो में मिलती है। इस मंत्र की व्याख्या करते हुए यास्क ने भी निरुक्त मे इस सम्बन्ध मे विशद विचार किया है।

परन्तु मेरा विश्वास है कि इस जगह यह अर्थ नही लग सकता। पहिले तो ऐसा अर्थ मंत्र के भाव को बहुत संकुचित कर देता है। कई ऐसी भाषाएं हैं जिनमे उपसर्ग का प्रायः अभाव है। उनके सम्बन्ध में यह मंत्र निरर्थक हो जायगा। फिर, यह मंत्र जिन मंत्रो के साथ आया है वहाँ व्याकरण का प्रसग भी नहीं है, प्रायः दार्शनिक भाव के ही मंत्र आये हैं। तीसरी बात यह है कि चार में से कोई भी अंग गोप्य नहीं है जिसको समझने के लिए धीर और मनीषी की आवश्यकता हो। साधारण विद्यार्थी भी उनको समझ लेता है। स्पष्ट ही, यहाँ दूसरे प्रकार से मीमांसा करनी होगी जिसके लिए योगशास्त्र की सहायता लेनी होगी।

योगी कहता है कि वाणी के चार रूप हैं। पहिला रूप वैखरी है। जो कुछ उच्चार्य है, जो कुछ मनुष्य, पशु, जलचर, कीट, के मुह से निकलना है वह सब वैखरी है। यह सबमे स्थूल रूप है। इसके स्वरूप को समझना श्रम-साध्य नही है, क्योकि सभी इसका व्यवहार करते है। यदि "कं" जैसी ध्वनि निकालनी है तो जिह्वा कठ का स्पर्श करती है और वायु उस स्थान से टकराती है। इसी प्रकार सभी ध्वनिया उच्चरित होती हैं। थोडा-सा ध्यान देने मे प्रतीत हो जायगा कि इसके पीछे एक सूक्ष्म रूप है। यह सोचिये कि हम जब चुपचाप मन म बोलते हैं तब क्या होता है। जिह्वा अपने स्थान से हिलकर कठ तक तो नही जाती परन्तु उसमे हल्का कम्पन होता है और वायु का हल्का धक्का कठ पर लगता है। तभी अस्फुट "क" की ध्वनि उठती है। यह ध्वनि भी श्रवणेन्द्रिय ग्राह्य है, इससे भी कान के पर्दे पर आघात होता है, परन्तु मुख मे उच्चरित न होने के कारण दूसरे के मन की बोली नही सुनी जा सकती। वाणी के इस सूक्ष्म रूप को मध्यमा कहते हैं। प्रत्येक भाषा का वैखरी रूप तो अलग है ही, मध्यमा रूप भी अलग ही होगा। वाणी का इससे भी सूक्ष्म एक रूप है जिसे पश्यन्ती कहते हैं। यह सभी भाषाओ का, सभी बोलियो का, बीज है। उसका ज्ञान किसी ऊँचे योगी को ही होता है। पतजलि ने योगदर्शन मे सयम करने की वह विधि बतलायी है जिससे "सर्वभूतरुतज्ञानम" (सब प्राणियो की बोली का ज्ञान) हो जाता है। सबसे ऊपर, सबसे सूक्ष्म रूप है परा। ध्वनि दो प्रकार की होती है, आहत और अनाहत। दो या अधिक वस्तुओ के टकराने से उत्पन्न ध्वनि आहत, अपने मे होने वाली अनाहत है। परा आहत अनाहत सभी की खान है और स्वत अनुच्चार्य है। उसी से फूट कर सभी दूसरे स्वन निकले ह। जगत् के आदि मे जो क्षोभ, कम्पन, हुआ उसके साथ ही परा का उदय हुआ। उसको इसी सूक्त के ४१वें मत्र से सहस्राक्षरा परमे व्योमन् (परम, सबसे परे, आकाश मे सहस्राक्षरा) कहा है। जैसा कि वेदो मे अन्यत्र भी देखा जाता है सहस्र का तात्पर्य होता है असख्य। यह स्पष्ट ही है कि मध्यमा पश्यन्ती और परा तक सब की पहुँच नही हो सकती। परा तो बडे ही ऊचे योगी, सच्चे मनीषी ब्राह्मण, के अनुभव की वस्तु है।

मैं एक उदाहरण और देकर इस प्रसग को समाप्त करता हूँ। अगला अवतरण अथर्ववेद के १६वें अध्याय का ६२वाँ सूक्त है।

अष्टाचक्रा नवद्वारा, देवानाम्पूरयोध्याया,
तस्यां हिरण्मयः कोशः सुवर्णज्योतिषावृतः ।।
तस्मिन् हिरण्मये कोशे, त्रिदिवे त्रिप्रतिष्ठिते,
तस्मिन् यदन्तरात्मन्वत् , तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ।।

'आठ चक्र और नव द्वार वाली देवों की जो अयोध्यापुरी है, उसमें प्रकाश से आवृत हिरण्मय (स्वर्णमय) कोश है जो स्वर्ग है। उस स्वर्ग मे तीन पर प्रतिष्ठित (तीन पर आश्रित) हिरण्मय कोष मे, जो अन्तरात्मा जैसा पदार्थ है उसको ब्रह्मवेत्ता ही जानते है।'

यहाँ इस मंत्र की व्याख्या की आवश्यकता नही है। यह तो स्पष्ट है कि नवद्वारवाली पुरी यह शरीर है। परन्तु शेष का भाव तो अनुभवी योगी ही समझ सकता है। जैसा कि स्वयं मंत्र कहता है, उसे ब्रह्मवेत्ता ही जानते हैं।

ऐसे अनेक अवतरण दिये जा सकते हैं; पर इतने ही पर्याप्त है। इनमें से कोई भी ऋग्वेद के दशम् मंडल से नही लिया गया है। इनसे यह सिद्ध होता है कि वेदो मे ऐसे विषय भरे पड़े है जिनका सम्बन्ध योग और दर्शन, मुख्यतः वेदान्त, से है। ऐसे विषय भोले भाले गड़ेरियों, व्रात्यों और कृषकों की बौद्धिक उडान के बहुत ऊपर हैं।

किसी भी देश और समाज के सब व्यक्ति किसी भी समय मे एक से नहीं होते। बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास मे भेद होता ही है। पुराकालीन आर्य्यों मे भी यह बात रही होगी। कुछ लोग जादू, टोना, टोटका को मानते होंगे, कुछ प्राकृत शक्तियो पर विश्वास करते होंगे। परन्तु जिस समय हमको सबसे पहिले उन लोगो का परिचय मिलता है—मेरा तात्पर्य ऋग्वेद काल से है—उस समय आर्य्य समाज मुख्यतया इन बातो के आगे बढ गया था। वह जगत् के नानात्व के पीछे एकत्व की सत्ता का अनुभव कर रहा था।

अब उसके चित्त मे इस प्रकार के प्रश्न उठ रहे थे :

पृच्छामि त्वां परमन्त पृथिव्या पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभि ।
पृच्छामि त्वां वृष्णो अश्वस्य रेत पृच्छामि वाच परम व्योम ॥
—ऋक् १, १६४, ३४ ।

'मैं तुमसे पूछता हूँ कि पृथिवी का अन्त कहाँ है, पूछता हूँ कि विश्व की नाभि (या केन्द्र) कहाँ है, तुमसे पूछता हू कि इस बरसनेवाले घोडे का मूल क्या है, पूछता हूँ कि वाक् का परम व्योम कहाँ है?'

वेद मे सूर्य को कई जगह बरसने वाला अश्व कहा गया है। यह प्रश्न भी, जो तृतीय मडल के ५४वें सूक्त के ५वें मन्त्र मे पूछा गया है, द्रष्टव्य है

को अद्धा वेद क इह प्रवोचद देवा अच्छा पथ्या का समेति ।
ददृश्र एषामवमासदांसि, परेषु या गुह्येषु व्रतेषु ॥

'कौन निश्चय के साथ जानता है और कौन बतलायेगा कि देवो तक पहुँचनेवाला मार्ग कौन सा है? हम देवो के निचले सदनो को तो देखते हैं परन्तु उनके ऊँचे और गुप्त स्थानो तक, जिनका चर्चा व्रतो मे है, कौन सा मार्ग जाता है?'

ये कोरे प्रश्न नही थे। उनके उत्तर भी थे, पर ये उत्तर बौद्धिक व्यायाम, तर्क, से प्राप्त नही हो सकते। उनका उदय उस बुद्धि मे होता है जिसके सारे कषाय योगाग्नि मे भस्म हो गये हैं। इसीलिए यह प्रार्थना की जाती थी

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च, विश्वाधिपो रुद्रो महर्षि ।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं, स नो बुध्या शुभया संयुनक्तु ॥

'जो देवो का प्रभव और उद्भव है अर्थात् निमित्त और उपादान कारण[1]

१—जिस पदार्थ से कोई वस्तु बनती है वह उपादान कारण और जिस साधन से बनती है वह निमित्त कारण कहलाता है। जैसे मिट्टी घडे का उपादान और कुम्हार निमित्त कारण है।

है, जो विश्व का स्वामी है और सर्वत्र व्याप्त है, जिसने जगत् के कर्ता हिरण्य-गर्भ को पहिले जन्म दिया था, वह रुद्र हमको शुभ बुद्धि दे।' इस प्रकार से उपलब्ध ज्ञान को उन लोगों ने अपने पास छिपाकर रखने का यत्न नही किया। वेद का आदेश है :

इमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ।

'इन कल्याणमयी वाणी को मनुष्यमात्र को सुनाओ।'

परन्तु वैदिक ऋषि आर्य्य जनता के नासमझ नेता नहीं थे। वे लोगों में बुद्धिभेद उत्पन्न करके अव्यवस्था और उच्छृंखलता नही लाना चाहते थे। वे जानते थे कि सब लोग योगी और ब्रह्मज्ञानी नही बन सकते। इसलिए जहाँ कभी कभी स्पष्ट शब्दो का प्रयोग करते थे वहाँ बहुधा समाधि भाषा से काम लेते थे। समाधिभाषा मे वाक्यो और शब्दो का अर्थ केवल कोश और व्याकरण से नही लगता। कुछ अर्थ तो निकलता है, परन्तु बोलने वाले का पूरा पूरा भाव व्यक्त नहीं होता। इतना ही नही, कभी कभी तो बिल्कुल ही छिपा रह जाता है। पहेली सी बन जाती है। ऋषियो ने ऐसी भाषा से बहुत काम लिया है। पुराने शब्द, पुरानी उपमाएँ, पुरानी गाथाएँ, पुराने विश्वास सबका उपयोग हुआ है। पुराने धातुओं को नये साँचे मे ढाल दिया गया है, पुरानी भाषा को नये अर्थ पहिना दिये गये हैं। यह एक दिन मे नही हुआ। यह समयापेक्ष था। साधारण अधिकारी उद्विग्न नही होने पाया, उसके सामने खोजकर ऐसी बातें नही रखी गई जो उसकी अनुभूतिशिला से बहुत ऊँची थी, परन्तु उसके आध्या-त्मिक विकास का स्तर धीरे-धीरे उठाया गया। वह पुरानी भाषा के ही द्वारा नूतन अर्थो से परिचित कराया गया। एक ही भाषा स्थूल और सूक्ष्म दोनो प्रकार के अर्थो का माध्यम बनी।

ऋग्वेद के पाठ से यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है। आज वह गुह्य अर्थ बहुत सा खो गया है। पहेली है पर कुंजी नही मिलती और उसके मिले बिना वेद का अर्थ लग नही सकता। जो अर्थ निकाला जायगा वह या तो अधूरा होगा या भ्रान्त। पिछले कई सौ वर्षों मे वेद के सबसे बडे भाष्यकार सायण हुए हैं। वेदार्थ की कुंजी उनको नहीं मिली या फिर उन्होने उसे ढूंढा नही। उन्होने वेद

मन्त्रों से वहाँ तक ही काम लिया जहाँ तक उनका उपयोग यज्ञो मे हो सकता है। इसके लिए अर्थ की गहराई मे जाना उनको स्यात् आवश्यक नही प्रतीत हुआ।

वेदो मे 'अग्नि' शब्द बहुत आया है। ऋग्वेद का पहिला मन्त्र ही अग्निदैवत है, उसका अग्नि से सम्बन्ध है। वह कहता है

अग्निमीळे पुरोहित यज्ञस्य देवमृत्विजम् होतारम रत्नधातमम !

इसमें अग्नि को पुरोहित, देव, ऋत्विक्, होता और रत्नो के धारण करनेवालो मे श्रेष्ठ कहा है। पुरोहित ऋत्विक् और होता वे लोग होते हैं जो यज्ञ करने मे यजमान को सहायता देते हैं। अग्नि मे आहुति डाली जाती है। परन्तु पुरोहित आदि शब्द उसके लिए कैसे आये? ऋग्वेद के दशम मडल के ४५वें सूक्त का दूसरा मन्त्र कहता है

विद्मा ते अग्ने त्रेधा त्रयाणि विदमा ते धाम विभृता पुरुत्रा।
विद्मा ते नाम परम गुहा यद्विदमा तमुत्स यत आजगन्थ ॥

'हे अग्नि, मैं तुम्हारे तीनो स्थानो और तीनो रूपो को जानता हूँ, मैं तुम्हारे उस धाम को जानता हूँ जो अनेक प्रकार से सुरक्षित है, मैं तुम्हारे उस नाम को जानता हूँ जो परम गुहा मे है अर्थात् परम गोपनीय है, मैं उस कुड को जानता हूँ जहाँ से तुम निकले हो।'

अग्नि को रुद्र से तदात्म माना गया है यथा, त्वमग्ने रुद्र, उसे मृत्युनीला, जीवा, म विद्यमान अमर तत्व कहा गया है

इद ज्योतिरमृत मर्त्येषु। ६ ९ ४।

'यह मर्त्यों मे अमृत ज्योति है।'

और उदाहरण देने की आवश्यकता नही है। अग्नि उस रुद्र से अभिन्न है जो देवो का निमित्तोपादान कारण है और जगत् के निर्माता हिरण्यगर्भ का भी

किसी मनुष्य के शरीर का वर्णन नहीं हो सकता। मुख्यतः इस काण्ड के मंत्रों में या तो योगी की ओर संकेत है या ईश्वर की ओर, जिसको रुद्र के रूप में याद किया गया है। परन्तु जो कहा गया है उसका समझना नितान्त कठिन है।

व्रात्य की कई दिशाओं में यात्राओं का चर्चा है। मैं नीचे एक यात्रा का उदाहरण देता हूँ।

स उदतिष्ठत् । स प्राचीं दिशमनुव्यचलत् । तं बृहच्च रथन्तरं चादित्याश्च विश्वे च देवा अनुव्यचलन् । श्रद्धा पुंश्चली मित्रो मागधो विज्ञानं वासोऽहरुष्णीषो रात्री केशा हरितो प्रवर्तौ कल्मलिर्मणिः । भूतं च भविष्यच्च परिष्कन्दौ मनो विपथं मातरिश्वा च पवमानश्च विपथवाहौ वातः सारथी रेष्मा प्रतोदः । कीर्तिश्च यशश्च पुरः सरावैनं कीर्तिर्गच्छत्या यशोगच्छति य एवं वेद ।

'वह उठा और पूर्व की ओर चला, बृहत् और रथंतर साम तथा सब देव उनके पीछे चले। श्रद्धा पत्नी थी, सूर्य्य मागध (भाट) था, विज्ञान वस्त्र था, दिन पगड़ी था, रात्रि केश थी, सूर्य्य और चन्द्रमा कान के आभूषण थे, तारे मणि थे, भूत और भविष्यत् परिचर थे, चित्त रथ था, प्राण और सोम घोड़े थे, वायु सारथी था, आँधी लगाम थी। कीर्ति और यश रथ के आगे दौड़नेवाले भृत्य थे। जो मनुष्य इस बात को जानता है वह यश और कीर्ति प्राप्त करता है।'

वेदार्थ कितना निगूढ़ है इसके कहाँ तक उदाहरण दिये जायँ। ऊपर जो थोड़े से निदर्शन दिये गये हैं वे पर्य्याप्त होने चाहियें। उनसे यह भ्रम तो दूर हो ही जाना चाहिए कि वेद में केवल कर्म्मकाण्ड है या स्तुतियाँ भरी पड़ी हैं। साथ ही यह भ्रम भी दूर हो जाना चाहिए कि सर्वत्र वेद का अर्थ लगाना सरल है।

इसी ग्रंथ से हमको पूछना है कि प्राचीन काल में आर्य्य लोगों की देवों के सम्बन्ध में क्या धारणा थी।

दूसरा अध्याय

देव शब्द के विषय मे भ्रान्त धारणाए

इस अध्याय का शीर्षक अनावश्यक और कुछ आश्चर्यजनक सा प्रतीत होता है। देव शब्द आबालवृद्ध सभी की जिह्वा पर रहता है, देव या उसके पर्य्याय के रूप मे देवता का व्यवहार शिक्षित अशिक्षित सभी करते हैं। ऐसे शब्द की व्याख्या क्या की जाय जिसको सभी जानते हैं?

इस स्थल पर कुछ बातें ध्यान म रखने योग्य है। शब्द प्रचलित है परन्तु इसमे सन्देह है कि सब लोग इसके अर्थ को ठीक ठीक समझते हैं या बोलते समय इसका एक ही अर्थ सब की बुद्धि म रहता है। जैसा कि हम आगे देखेंगे, देव और देवता के अर्थ मे भी अन्तर है। यह भी निश्चित होना चाहिए कि जो कुछ भी अर्थ आजकल हमारे सामने है, वही प्राचीन काल म भी लोगो को अभीष्ट था। यदि ऐसा नहीं था तो हमको यह जान लेना चाहिए कि प्राचीन काल मे लोग इसका व्यवहार किस अर्थ मे करते थे। इस सम्बन्ध मे भारतीय विद्वत्परपरा और पाश्चात्य विचारधारा मे बडा अन्तर है। आज का शिक्षित समाज न तो भारतीय मत को जानता है, न उसका समादर करता है।

भारतीय पडितो के पास प्रमाण के रूप मे वेद, विशेषत ऋग्वेद, है। यह पृथिवी पर सबसे प्राचीन पुस्तक है। इसम देवो का चर्चा प्रचुर मात्रा मे है। पाश्चात्य विद्वान् भी वेद की उपेक्षा नही करते। उनमे समाजशास्त्र, धर्म, दर्शन आदि पर बहुत प्रकाश पडता है। परन्तु वेद के अतिरिक्त प्रमाणो से भी काम लिया जाता है। वर्तमान काल की बर्बर और असभ्य जातियो के जीवन का अध्ययन किया जाता है और अन्य जातियो की प्रथाओ तथा रस्मरिवाजो पर मनन किया जाता है। इस प्रकार के गम्भीर विमर्श के बाद विद्वज्जन कुछ निष्कर्षो पर पहुँचे हैं जिनको सक्षेप म इस प्रकार समझ सकते हैं।

आज से कई लाख वर्ष पहिले जब मनुष्य की पहिले सृष्टि हुई तो वह अपने समकालीन पशुओं में से बहुतों से दुर्बल था। शरीर बहुत बलवान् नहीं था, न तीखे दाँत थे, न सींग, न पंजे। उसकी बुद्धि औरों से प्रखर थी। वही उनका मुख्य शस्त्र भी था। नंगा घूमता था, गुफाओं मे छिपकर रहता था। ऐसे प्राणी को धर्म्म और उपासना जैसी बातों का भला क्या ज्ञान होता? अन्य पशुओं की भाँति वह भी पशु था, जिसका जीवन भोजन करने, भोजन के लिए लड़ने और अपने प्राणो की रक्षा के लिए लड़ने में बीतता था। प्रमाण तो नही है, परन्तु अनुमान किया जा सकता है। मनुष्य चाहे कितना भी जंगली हो, फिर भी मनुष्य ही था। उसकी बुद्धि दूसरे पशुओं से पैनी थी ही। सम्भव है उसका ध्यान सूर्य चन्द्र की गति, वर्षा और आतप की ओर गया हो; सम्भव है वह किसी के मरने पर शोक के साथ भय का अनुभव करता हो, कभी कभी स्वप्न मे चौंक पड़ता हो। ऐसी दशा मे उसके चित्त में अव्यक्त भावनाएँ उठती हों, भय और कुतूहल कभी कभी सताते हो। यदि ऐसा होता होगा, और होना असम्भव नही है, तो यह कह सकते है कि उन लोगों के चित्तों मे वे अंकुर निकल चुके थे जिन्होंने आगे चलकर धर्म्म का रूप धारण किया। इस शंकामय स्तर पर पहुँचने मे भी इस नूतन पशु जाति की सहस्रों पीढ़ियाँ बीत गयी होंगी।

जीवन की नौका आगे बढ़ी। मनुष्य के शत्रु कई कारणों से दुर्बल पड़ते गये। मनुष्य का पक्ष सुदृढ़ होता गया। उसने पत्थर, फिर धातुओ, से काम लेना सीखा, नये हथियार बनाये, झोपड़ियाँ बनायी, छाल और खाल को शरीर पर 'लपेटा' और सबसे बड़ी बात यह है कि आग जलाने की विद्या उपार्जित की। यूनानियो के अनुसार प्रामेथ्यूज़ पहिले मनुष्य थे जो आग को पृथिवी पर लाये। भारतीय परम्परा इसका श्रेय अंगिरा को देती है। अस्तु, इस प्रकार ज्यों ज्यों मनुष्य आगे बढा, उसके जीवन में निःशंकता बढ़ती गयी, वह जांगलिक से बर्बर हुआ, शिकारी से पशुपालक और फिर कृषक बना। जहाँ पहिले व्रात्य रूप से एक जगह से दूसरी जगह घूमता फिरता था, वहाँ अब स्थिर बस्तियों मे रहने का अभ्यास पड़ा, किसी न किसी रूप में क्रय-विक्रय करना आया।

इन परिवर्तनों के साथ जीवन मे सुरक्षा भी आयी। अब प्रतिपद जान

हथेली पर रखकर निकला नहीं था, प्रत्येक व्यक्ति के पीछे उसका गाँव या खेड़ा होता था। जब बहुत से लोगों का एक साथ रहना था तो व्यवस्था भी आयी, सम्पत्तिसंग्रह, स्त्रीसंग्रह आदि के नियम बने, युद्ध तक पर कुछ परिसीमन हुआ। इन बातों ने भय और आशंका के पर्य्यावरण को पतला किया और सोचने का अवकाश दिया।

यह ज्ञान तो बहुत शीघ्र अनुभव में आ गयी होगी कि कई प्राकृतिक दृग्विषय क्रमबद्ध रूप से आते हैं। चन्द्रमा पन्द्रह दिन तक घटता रहता है, फिर पन्द्रह दिनों में बढ़ता है। जाड़ा, गर्मी और वर्षा का भी नियत क्रम है। अमुक अमुक फल और पौधे अमुक अमुक निश्चित समय पर ही उपलब्ध होते हैं। परन्तु कुछ ऐसी घटनायें हैं जिनमें कोई निश्चितता नहीं है। बिजली कब गिरेगी, मनुष्य या पशु कब मरेगा, कोई नहीं बता पाता। प्रकृति की लीला का परिचय केवल जानकारी के लिए नहीं था, उसका वैयक्तिक और सामुदायिक जीवन से गहरा सम्बन्ध था। कुछ घटनाएँ हितकर थीं, कुछ अहितकर। स्वभावतः जो हितकर घटनाएँ हैं मनुष्य उनको पसन्द करता है, जो अहितकर हैं उनसे डरता है। इसलिए ज्यों ज्यों मनुष्य ने उन्नति की, उसका यह प्रयत्न रहा कि अच्छे दृग्विषय होते रहें, बुरे न हों। और तो कोई साधन नहीं था, खुशामद का ही भरोसा था। गद्य और पद्य, विशेषतः पद्य, में अच्छे अर्थात् हितकर दृग्विषयों की प्रशंसा और स्तुति की जाती थी, बुरों से प्रार्थना की जाती थी कि कृपया हमसे दूर रहिये, हमको और हमारे परिवार को क्षमा कीजिए। बिजली, बादल, सूर्य, तारे, आग, हवा, जल, ये सभी उपासना अर्थात् प्रशस्ति और स्तुति के पात्र बन गये।

आदिकाल में यही देव हैं। परन्तु कुछ आगे चलकर एक और महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। विचारों में और सूक्ष्मता आयी। यह प्रतीत होने लगा कि जो भौतिक पिण्ड या दृग्विषय हमारे सामने आते हैं वे वास्तविक देव नहीं हैं, देव उनके भीतर उनको व्याप्त करके स्थित हैं। बिजली या आग स्वयं उपासना की वस्तु नहीं है। कोई सूक्ष्म अदृश्य शक्ति है जो इन स्थूल वस्तुओं के द्वारा काम करती है। इस प्रकार देव शब्द के अर्थ में क्रमिक विकास हुआ। पहिले तो प्राकृतिक दृग्विषय स्वयं पूजा के पात्र देव थे, फिर यह सूक्ष्म शक्तियाँ जो इन

दृग्विषयों मे व्यक्त होती है देव मानी गयीं। एक ही कदम आगे बढ़ना था। शक्ति और शक्तिमान् एक दूसरे से अभिन्न है। यह बात सहज ही ध्यान मे आयी कि कुछ ऐसे अदृश्य व्यक्ति हैं जिनकी शक्तियो का अभिव्यंजन प्रकृति में हो रहा है, यही महापुरुष विश्व का संचालन कर रहे है। यही देव हैं।

धार्म्मिक विचारो का विकास सर्वत्र इसी क्रम से हुआ है, ऐसा पाश्चात्य विद्वानो का मत है। जो अन्यत्र हुआ वह भारत मे भी हुआ होगा ऐसा मानना चाहिए। वेद मे जिन देवो के नाम आते है उनमे से कई तो प्राचीन यूनान आदि मे भी प्रचलित थे। भारतीय सभ्यता भी बर्बर स्तर को पार करके उसी स्तर पर पहुँची थी जहाँ यूनानी सभ्यता आकर टिकी थी। अत. ऐसा मानना उचित है कि वैदिकयुग मे देव शब्द प्राकृतिक दृग्विषयों के लिए या उन प्राकृतिक शक्तियों के लिए प्रयुक्त हुआ है जो इन दृग्विषयो के द्वारा प्रकट होती है। यह माना जा सकता है कि कही कही विचारो की उड़ान उन व्यक्तियों तक पहुँची हो जो उन शक्तियों के स्वामी माने जाते थे। यदि कही 'इन्द्र' शब्द आया है तो वह या तो बादल के लिए प्रयुक्त हुआ है, या उस शक्ति के लिए जो बादल से पानी बरसाती है या फिर स्यात् उस किसी व्यक्ति के लिए जो अपनी शक्ति से बादल के द्वारा पानी बरसाता है। वास्तविक देव तो बादल था, जो प्रत्यक्ष है, शक्ति और शक्तिधर पीछे की कल्पनाएँ हैं। यदि यह मत ठीक है तो वेद की संहिताएँ पुराकालीन कृपको और पशुपालको तथा उनके पुरोहितो के बनाये हुए गाने हैं। इन गानो मे प्रकृति के सौन्दर्य का वर्णन है, किन्ही ऐतिहासिक घटनाओ का चर्चा है और प्राकृतिक दृग्विषयो, उनकी प्रेरक शक्तियो और फिर शक्तिधरो की प्रशसा, स्तुति और याचना है। उन लोगों के पुरोहितों ने यज्ञ नाम की कुछ क्रियाएँ निकाली थीं जिनसे वे समझते थे कि दैवी शक्तियो को प्रभावित किया जा सकता है। ऐसे भी पद्य है जिनके पाठ के द्वारा देवो पर दबाव डालने का स्पष्ट प्रयास होता था। आज भी जादू टोना करने वाले अपने मन्त्रो से प्रेत पिशाचादि पर दबाव डालने का प्रयत्न करते देख पड़ते है और आग मे कुछ पढ पढकर आहुति भी डालते हैं। उन भोले भाले लोगो ने सोम नाम की उस मादक वस्तु को भी देवपद दे डाला था जिसको नशे के लिए पिया करते थे। वेद को देखने से प्रतीत होता है कि उन लोगों का जो अपने को आर्य्य कहते थे इस विषय मे कोई स्पष्ट मत नही था कि मरने के उपरान्त क्या होता है। वे प्राण, आत्मा,

जीव जैसे शब्दो का व्यवहार प्राय समान अर्थ मे करते थे। इससे यह सिद्ध होता है कि उस समय उनके कोई स्पष्ट दार्शनिक विचार नही थे।

मैं पाश्चात्य विद्वानो के श्रम का आदर करता हूँ, परन्तु उनसे सहमत होने मे अपने को असमर्थ पाता हूँ। वे जो कुछ कहते हैं, सब निराधार है, यह मेरा कहना नही है। मेरा भी यह विश्वास है कि मनुष्य के धार्म्मिक विचारो का उद्भव और विकास कुछ उसी प्रकार हुआ होगा जिसका वर्णन इन विद्वानो ने किया है। स्पष्ट प्रमाण हो या न हो परन्तु मैं यह भी मान लेता हूँ कि आर्य्यों के धार्म्मिक विचार भी कभी इसी प्रकार विकसित हुए होंगे। परन्तु मेरा ऐसा भी विश्वास है कि जिस समय पहिले पहिले आर्य्य लोग इतिहास के मच पर आते हैं उस समय वे उन पुराने विचारो का अतिक्रमण कर चुके थे। इतना ही नहीं, ऋग्वेद काल से बहुत पहिले आर्य्य सस्कृति वह मोड ले चुकी थी जो ऋग्वेद मे व्यक्त हो रही है। जिस बौद्धिक और आध्यात्मिक पीठ पर ऋग्वेद का आर्य्य बैठा देख पडता है वह कुछ सहस्र वर्षों से उसका प्राप्त था। हम ऋग्वैदिक काल के पहिले आर्य्यों के सम्बन्ध मे बहुत कम जानते हैं। उनका किस किस से कितना सम्पर्क हुआ था, मुख्यत सुमेरियन सभ्यता और सस्कृति का कहाँ तक प्रभाव पडा था, यह सब अनुमान और खोज का विषय हो सकता है, परन्तु मुझको इसमे कोई सन्देह नहीं है कि ऋग्वेद काल का आर्य्य प्रकृति के दृश्यविषयो की मूर्तिमती तथा कल्पित शक्तियो का उपासक नही था, उसके देव कुछ और ही थे। यदि कोई यह पूछना चाहे कि केवल भारतीय आर्य्यों की आध्यात्मिक उन्नति ऐसी क्यो हुई, तो इस प्रश्न का उत्तर यहाँ नहीं दिया जा सकता। वस्तु स्थिति यह है कि वे इस क्षेत्र मे दूसरो से बहुत आगे बढ चुके थे।

यदि वेद न होते तो हमको प्राचीन काल की दूसरी जातियो की भाँति आर्य्यों के विश्वासो के सम्बन्ध मे भी अटकल लगानी पडती। यह काम बहुत कठिन होता क्योकि आर्य्य लोग ईंट पत्थर की कृतियाँ नहीं छोड गये हैं। परन्तु सौभाग्य से वे वेद छोड गये हैं। हम वेद से ही पूछ सकते हैं कि आर्य्य अपने देवो को किस दृष्टि से देखता था? परन्तु वेद की सहायता लेने के पहिले हमको उन बातो का ध्यान मे रखना होगा जिनकी चर्चा पहिले अध्याय मे हुआ है। वेद ईश्वरकृत हो या मनुष्यकृत, परन्तु हैं वे मनुष्यो के लिए। उनके आदेशो और

उपदेशों के पात्र सभी देशों और कालों के मनुष्य भले ही हों, परन्तु वेद किसी काल विशेष और देश विशेष में प्रकट हुआ और एक भाषा के द्वारा अवतरित हुआ। उस भाषा के शब्द वेद के लिए नये-नये नहीं बने, पहिले से बोले जा रहे थे, साधारण जनता मे प्रचलित थे। अतः उनमें से बहुतों ने अपने खास ध्वनितार्थ बटोर लिये थे। उनके अभिधार्थ मात्र को जान लेना पर्य्याप्त नहीं हो सकता। कहीं-कहीं प्राकृतिक दृश्यो के वर्णन होंगे, कहीं-कहीं उपमाओं से काम लिया गया होगा, ऐसी उपमाएं भी हो सकती हैं जो आजकल के लोगों के अनुभव से बाहर से हों। कही ऐतिहासिक घटनाओ का चर्चा हो सकता है। कहीं-कहीं अर्थवाद से काम लिया गया होगा। मनुष्य के लिए जो रचना होगी उसमे ये सब बाते होंगी। इनको ध्यान मे रखकर ही वेदार्थ का निर्णय करना होगा। कहीं-कहीं तो शब्दों का प्रयोग जान बूझकर अप्रचलित अर्थों मे किया गया है। मीमांसा के आचार्य्यों[1] ने वेद की व्याख्या करने की समुचित विधि पर बहुत प्रकाश डाला है।

इन सब बातो को ध्यान मे रखते हुए वेद के अर्थ को ढूंढना चाहिए। मेरा ऐसा विश्वास है कि ऐसा करने से उस मत के प्रति, जिनका प्रतिपादन पाश्चात्य विद्वान् करते है, आप से आप सन्देह होने लगेगा, अश्रद्धा हो जायगी। स्वयं मैक्समुलर ने उषा सम्बन्धी वैदिक रचनाओं की प्रशंसा करते हुए कहा था— "परन्तु क्या उषा ही सब कुछ है?" यही प्रश्न सूर्य्य, बादल, बिजली आदि के सम्बन्ध में हो सकता है। यदि वेद मे इन्ही सब बातो का चर्चा भरा है तो उनसे तो जी ऊब जाना चाहिए। कविता कहाँ तक पढ़ी जायगी? और फिर प्राकृतिक दृश्यो के एक से एक सुन्दर वर्णन संस्कृत, हिन्दी, बगला आदि भाषाओं में कवियों ने किये है। आर्य्य और उनके वंशज आज के हिन्दू भी बड़े पागल लोग होगे जो उन पुरानी पद्य रचनाओ को आज तक पढे जा रहे है जब कि उनसे अच्छी काव्य सामग्री वर्त्तमान है! इतना ही नहीं, उन पुरानी कविताओ को पवित्र

१—अर्थवाद एक प्रकार की अतिशयोक्ति है जो वैदिक वाङ्मय में कई जगह प्रयुक्त हुई है। जैसे, किसी कृत्य की ओर रुचि दिलाने के लिए उसकी प्रशंसा में कह दिया जाता है 'इसको पुराकाल में गउओं ने किया था, उनको अमुक-अमुक लाभ हुआ।'

मानते चले आ रहे है और ना ा तया धम्म का अटूट भडार मान रहे हैं। जो भी वेद का पारायण करेगा उसके चित्त मे यह भाव उठे बिना रह नही सकता कि सूय्य, अग्नि, वायु, रात्रि, उषा जैसे परिचित शब्दो के द्वारा कोई-न-कोई अपरिचित अथ व्यक्त किया जा रहा है। कोई न कोई रहस्य है जो पकड मे नही आ रहा है, परन्तु उसकी प्राप्ति के बिना वेदाथ छिपा रह जाता है। ऐसा लगता है कि जान बूझकर अथ के ऊपर शब्दो का पर्दा डाला गया है।

हम पहिले अध्याय मे कई ऐसे मत्रो को उद्धृत कर आये हैं जिनका अर्थ पाश्चात्य विद्वानो के मत के अनुसार नही लग सकता। देवो के पुर अयोध्या या देवों को साथ लेकर ग्रातय की पूव दिशा की ओर यात्रा का किन्ही प्राकृतिक दृश्यविषयो से दूर का भी सम्बन्ध नही प्रतीत होता। विष्णु सबधी दो मत्र हैं

इद विष्णुर्विचक्रमे, त्रेधा नि दधे पदम् ।
समूळ्हमस्य पासुरे ।
(ऋक् १, २२, १७)

और,

त्रीणि पदा विचक्रमे, विष्णुर्गोपा अदाभ्य ।
अतो धर्म्माणि धारयन् ।
(ऋक् १, २२, १८)

'विष्णु चले, उन्होने तीन पाँव रक्खे, उनके पाँव की धूलि से विश्व भर गया। अजेय रक्षक विष्णु तीन पाँव चले, इस प्रकार धर्म्मों को धारण करते हुए।'

कहा जाता है कि यहाँ विष्णु सूय्य को कहा गया है, प्रात काल मध्याह्न और सायकाल उनके तीनों पद हैं। यदि यह अथ मान लिया जाय तो उनके पाँव की धूलि से विश्व के भर जाने और उनके धर्म्मों के धारण करने का क्या तात्पर्य होगा?

यद्देवा अद सलिले, सुसरब्धा अतिष्ठत ।
अत्रा वो नृत्यतामिव, तीव्रो रेणुरपायत ॥
(ऋक् १०, ७२, ६, ७)

'हे देवगण, जब आप लोग एक दूसरे से मिले हुए सलिल में खड़े थे, तो आप लोगों से गहरी धूल उठी, जैसे आप लोग नाच रहे हों।'

सलिल जल को कहते हैं। जब जल के शुद्ध अविभक्त रूप की ओर, उसके नदी, समुद्र, झील, कूप, बूंद आदि भेदों की ओर ध्यान न देते हुए, संकेत करना हो तो इस शब्द का व्यवहार किया जाता है। इस मंत्र में किस प्राकृतिक घटना की ओर संकेत हो सकता है और देव शब्द किन प्राकृतिक शक्तियों के लिए व्यवहृत हो सकता है?

इन्द्र बादल के गरजने और बिजली गिरने के प्रतीक माने जाते हैं। यों कहना चाहिए कि पाश्चात्य विद्वानों के मत से आर्य्य लोग गरजते बादल और गिर कर प्राणनाशक बिजली को इन्द्र नाम से पूजते थे। बादल फाड़कर वृष्टि हुई, अन्धकार फाड़कर प्रकाश हुआ, तो इसको इन्द्र के हाथों वृत्रासुर का वध कह दिया गया। वृत्र का अर्थ भी है, आवरण करने वाला, ढँकनेवाला और इन्द्र का आयुध वज्र माना ही जाता है। पर क्या बिजली-बादल के लिए ये शब्द कहे जा सकते हैं?

इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्या इन्द्रो अपामिन्द्र इत्पर्वतानाम् ।
इन्द्रो वृधामिन्द्र इन्मेधिराणामिन्द्रः क्षेमे योगे हव्य इन्द्रः ॥
(ऋक् १०, ८९, १०)

'इन्द्र आकाश और पृथिवी के स्वामी है, इन्द्र जलों और पर्वतों (अर्थात् चलों और अचलों) के स्वामी है, इन्द्र वृद्धों और धीमानों के स्वामी है, क्षेम और योग के लिए इन्द्र ही हव्य (पुकारने योग्य) योग्य है।

'आपः' शब्द के कई अर्थ हैं। उनमें सबसे प्रचलित अर्थ जल है। पर क्या इस मंत्र को देखकर यह कहा जा सकता है कि यह जल से प्रार्थना के रूप में है?

इदमापः प्र वहत यत्किं च दुरितं मयि ।
यद्वाहमभिदुद्रोह यद्वा शेप उतानृतम् ।
(ऋक् १, २३, २२)

'हे आप, मैंने जो पाप किये हो, जो किसी से द्रोह किया हो, जो किसी को शाप दिया हो (अपशब्द कहे हो) या झूठ बोला हो, उस सबको आप दूर बहा ले जाइये।'

अग्नि का सीधा अर्थ आग है और वेद मे अग्निपरक मत्रों को देखकर यह विचार मन मे उठ सकता है कि आर्य लोग अग्निपूजक थे। वैदिक उपासना मे यज्ञ-याग मे आग का काम पडता भी है। पर थोडा सा पारायण करने से ही पता चल जाता है कि आग के साथ-साथ अग्नि शब्द के दूसरे अर्थ भी हैं।
ऋग्वेद का पहिला ही मत्र कहता है

अग्निमीळे पुरोहित यज्ञस्य देवमृत्विजम् होतारम् रत्नधातमम् ॥

'मैं उन देव अग्नि की स्तुति करता हूँ जो यज्ञ के पुरोहित, ऋत्विक् और होता हैं तथा रत्नधारण करनेवालो मे श्रेष्ठ हैं।' पुरोहित, होता और ऋत्विक् वे वेदज्ञ पुरुष होते हैं जो यजमान को यज्ञ करने मे सहायता देते हैं। रत्न धारण करनेवालो मे श्रेष्ठ कहने का तात्पर्य हुआ उत्तम फल देनेवाले। इस मत्र के अनुसार अग्नि ही यज्ञ कराने वाले और वही यज्ञ का फल देने वाले हैं। इतना ही नही, अग्नि को 'गृहपतिश्च नो दमे (२, १, २) 'हमारी यज्ञशाला मे गृहपति (यजमान)' भी कहा गया है। अग्नि का रुद्र से तादात्म्य बताया गया है। परन्तु रुद्र तो देवो के प्रभव और उद्भव कहे गये हैं। अत अग्नि भी देवो का निमित्त और उपादान कारण है। इसी प्रकार अन्यत्र (३, १, १२ मे) अग्नि को जनिता, नृतम और अपा गर्भ कहा गया है। इन शब्दो का अर्थ है, सृष्टिकर्त्ता या जनक, मनुष्यो मे श्रेष्ठ और जलो का गर्भ। यह अन्तिम विशेषण कई बार आया है। यह कहना अनावश्यक है कि अग्नि के ये स्वरूप प्राकृत आग से बहुत दूर हैं।

मैं समझता हूँ कि इतने उदाहरण पर्य्याप्त हैं। वेदो मे अग्नि, वायु, उषा, सूर्य्य जसे शब्द सैकडो बार आये हैं। कहीं-कहीं इनका व्यवहार उस प्रचलित अर्थ मे हुआ है जो सब साधारण की बोलचाल म सुनने समझने मे आता है। जब यह प्रार्थना की जाती है

शन्नो देवीरभिष्टये आपो भवन्तु पीतये,
शं योरभिस्रवन्तु नः
(१०, ९, ८)

'आकाश से जल बरसे, वह हमारे पीने के लिए हो, उससे हमारा कल्याण हो और रोग, दुर्भिक्ष आदि को हमसे दूर रखे' तो यहा सर्वसुगम बात कही जा रही है। परन्तु इन्ही शब्दों के माध्यम से दूसरे अर्थ व्यक्त किये जाते है। और यह तो स्पष्ट है कि आग, पानी, हवा आदि की उपासना तो नही ही होती थी।

अर्वाचीन काल मे स्वामी दयानन्द सरस्वती ने देवों के विषय मे हमारे सामने एक मत रखा है। उनका कथन है कि इन्द्र, रुद्र, विष्णु आदि परमात्मा के ही नाम है, किन्ही पृथक व्यक्तियों के नही। एक दृष्टि से यह सर्वथा ठीक है। वह एक है, विद्वान उसे अनेक नामों से पुकारते हैं—ऐसा स्वयं वेद कहता है। पुरुष सूक्त बतलाता है :

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।

सब सिर, हाथ, पांव उसी के सिर, हाथ-पांव है, वही एक होता हुआ भी अनेकवत् प्रतीत होता है। अतः सब नाम भी उसी के नाम हैं। जलती आग से निकली चिंगारी भी अग्नि है, विशाल वन को भस्म करने वाली आग भी अग्नि है, विशाल समुद्र के गर्भ को मथ डालनेवाली आग भी अग्नि हैं। इसी प्रकार जहाँ जो भी शक्ति है सब ईश्वर की ही है, वही नाना रूपो में नाना काम कर रही है। ऐसा मानने मे किसी को कोई आपत्ति नही हो सकती। परन्तु तत्व-दृष्टया एक होते हुए भी चूल्हे की आग, जाठराग्नि, दावाग्नि, वड़वानल में भेद है; उसी प्रकार ईश्वर से अभिन्न होते हुए भी अभिव्यक्ति-भेद से विभिन्न देव हो सकते है। देखना यह है कि वेद से इस बात का समर्थन मिलता है या नहीं।

देवों की संख्या ३३ बतायी जाती है: त्रयस्त्रिंशद् वै देवाः। इनमे ८ वसु, १२ आदित्य, ११ रुद्र, १ इन्द्र और १ प्रजापति हैं। शतपथ ब्राह्मण में ३३ की संख्या दूसरे ही प्रकार से पूरी की गयी है। परन्तु साधारणतः वस्वादि

सूची ही मानी जाती है। कई स्थलों में दूसरे प्रकार अर्थ करना ठीक नहीं लगता। यथा,

> ये त्रिंशति त्रयस्परो, देवासो बर्हिरासदन्
> विदन्नह द्वितासनन् ।
> (८, २८, १)

'जो तैंतीस देवगण कुश के बने आसना पर बैठे हैं हमको जानें और धन दें।'

स्वामी दयानन्द जी के अनुसार देव शब्द उपस्थित विद्वानों के लिए भी प्रयुक्त होता है परन्तु विद्वानों से धन माँगना तो अच्छा नहीं लगता। फिर इसे देखिए

> न योऽस्त्यर्भको देवासो न कुमारक ।
> विश्वे सतो महान्त इत् ।
> (८, ३०, १)

'हे देवगण, आप में कोई बच्चा या अल्पवयस्क नहीं है, आप सब समान रूप से बड़े हैं।'

हम पहिले एक मन्त्र उद्धृत कर आये हैं जिसमें कहा गया था कि जब देवगण सलिल में खड़े थे तो उनके पाँव से धूलि इस प्रकार उड़ रही थी, जैसे वे नाच रहे हों। ऐसे मन्त्रों का ईश्वरपरक या उपस्थित विद्वानों से सम्बद्ध मानना कठिन होता है। ऋग्वेद के दशम मंडल के पुरुषसूक्त में उस यज्ञ का चर्चा है जो सृष्टि के आदि काल में देवगण के द्वारा सम्पादित हुआ। वहाँ भी देव शब्द को विद्वान् का पर्याय मानना सुकर नहीं प्रतीत होता।

यह भी प्रश्न हो सकता है कि विद्वानों के सम्बन्ध में ३३ की संख्या का क्या महत्त्व है? इस मन्त्र को देखिए

---

१ वसु—आप, ध्रुव, सोम, धरापव, अनिल, वायु, प्रत्यूष, प्रभास, १२ आदित्य—अर्यमा, पूषा, त्वष्टा, सविता, भग, धाता, विधाता, वरुण, शक्र, मित्र, विवस्वान, विष्णु ११ रुद्र—अजएकपात्, अहिर्बुध्न्य, पिनाकी, महेश्वर, अपराजित, भास्कर, शम्भु, हरण, ईश्वर, वृषाकपि।

य ईशिरे भुवनस्य प्रचेतसो विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च मन्तवः।
ते नः कृतादकृतादेनसस्पर्यद्या देवासः पिपृता स्वस्तये ॥ १०, ६३. ८।

'जो विशिष्ट ज्ञान सम्पन्न देवगण स्थावर जंगम विश्व के ज्ञाता और स्वामी हैं वह हमको अतीत और अनागत पापों से दूर करें और हमारा कल्याण करें।'

इसी सूक्त के चौथे मंत्र में देवों के लिए अनिमिषन्त (जिनकी पलक नहीं गिरती, सदा जागरूक) ज्योतिरथा. (जिनके रथ ज्योतिर्मय हैं), अनागसः (निष्पाप), अमृतत्वाशना (जिन्होंने अमृतत्व का पान किया है), ऐसे विशेषण आये हैं। यों तो सभी विशेषण ईश्वर के लिए उपयुक्त हो सकते है, परन्तु उसके लिए बहुवचन का प्रयोग ठीक नहीं प्रतीत होता और किसी सभा मे उपस्थित विद्वानो के लिए ऊपर दिये हुए विशेषण उपयुक्त नहीं हो सकते। इससे यह स्पष्ट है कि जाँ वेद में देव शब्द ईश्वर और विद्वान् के लिए व्यवहृत हुआ है व ाँ किन्ही विशेष प्रकार के शक्तिशाली और लोकहितकारी सत्वो के लिए भी आया है। उनसे भाँति-भाँति की प्रार्थनाएँ की जाती हैं और योग-क्षेम की आशा की जाती है।

यहाँ दो शब्द सोम के सम्बन्ध मे भी कह देना आवश्यक है। पाश्चात्य विद्वानो का मत है कि वह विजया (भंग) की भाँति कोई मादक रस था जो किसी विशेष प्रकार के पौधे से पीसकर निकाला जाता था। किसी और जानकारी के अभाव मे पढा लिखा भारतीय भी यही मानने लगा है। सोम पौधे से पीस कर निकाला जाता था, इसमे सन्देह नही। उससे नशा भी होता था, इसमे भी सन्देह नही है। परन्तु वह सामान्य नशे के लिए नही पिया जाता था। आर्य्य सुरा से परिचित थे, शराब निकालना जानते थे। यदि उनको मादक वस्तु की ही चाह होती तो सुरा थी ही। पी सकते थे, पीनेवाले पीते ही थे। परन्तु सोम को जो विशेष स्थान दिया गया था, वह केवल नशे के लिए नही था। सोम बेचने वालो को कई सुविधाएँ प्राप्त थी, वह युद्धकाल मे भी बेरोक टोक देश के एक कोने से दूसरे कोने तक आ जा सकते थे। अन्य मादक वस्तुओ की भाँति न तो सोम गली-गली बिकता था, न जब चाहे तब पीस कर निकाला जाता था। एक तो वह मूजवान पर्वत से आता था जो कही अफगानिस्तान के पास है। यो ही

महगा होता होगा। दूसरे, यज्ञ के सिवाय और कभी तैयार नही किया जाता था। यज्ञ मे भाग लेने वालो को ही उसको पीने का अवसर मिल सकता था। ब्राह्मणो का कहना था

सोमोऽस्माक ब्राह्मणानाम् राजा ।

'सोम हम ब्राह्मणो का राजा है।' ऐसे शब्द निर्लज्जता के साथ किसी मादक वस्तु के लिए नही कहे जा सकते थे।

वेदो मे सोम की बहुत महिमा गायी गयी है। एक ओर तो सोम औषधि मात्र का प्रतीक है, दूसरी ओर वह उस रस, उस पोषक शक्ति का नाम है जो सभी वनस्पतियों मे सचार करता है और उनके द्वारा सभी जीवो का भरण-पोषण करता है। सोम प्राण की भी सज्ञा है और शारीरिक तथा बौद्धिक क्रियाओ और चेष्टाओ का प्रेरक है। सोम के सम्बन्ध मे यह मन्त्र विशेष रूप से द्रष्टव्य है

सोम मन्यते पपिवान् यत् सम्पिषन्त्योषधिम् ।
सोम य ब्रह्माणो विदुर्नतस्याश्नाति पार्थिव ॥
(१०, ८५, ३)

यहाँ स्पष्ट शब्दो मे दो प्रकार के सोम का उल्लेख है। एक तो वह जो साधारण मनुष्य पौधे को पीसकर पीता है, दूसरा वह जिसका रसास्वाद ब्राह्मण करता है।

मन्त्र का अर्थ है

'सोम को पीने की इच्छा से (लोग) पौधे को पीसते हैं, परन्तु जिस सोम को ब्राह्मण जानते हैं उसको पार्थिव, ससारी, मनुष्य नहीं चखता।'

सोमपान का यही रहस्य है। सोम के रस को पान करने से एक विशेष प्रकार की अनुभूति होती थी जो समाधि के नीचे स्तरो के अनुभव से मिलती-जुलती थी। जो साधक सोम का सेवन करता था उसको चित्त मे एकाग्रता लाने मे सहायता मिलती थी। योग दर्शन मे पतजलि ने कहा है "जन्मौषधिमन्त्रतप

समाधि-जन्याः सिद्धयः।' सिद्धियाँ जन्म, औषध, मंत्र, तप और समाधि से उत्पन्न होती हैं।

आज से कुछ दिन पहले सोम के इस गुण को समझना कठिन था। परन्तु आज पश्चिम, विशेषतः अमेरिका में ऐसे कई प्रयोग हो रहे हैं जिनसे यह बातें कुछ समझ में आने लगी हे। कई ऐसे पौधे हैं जिनके रस में कुछ विलक्षण गुण पाये गये हैं। इनमें मैस्केलीन पर बहुत प्रयोग हुआ है। पीने के बाद चित्त में विशेष प्रकार के विस्तार का अनुभव होने लगता है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे दिक् और काल नीचे छूटते हैं, एक क्षण के लिए ऐसा लगता है जैसे विश्व के रहस्य का साक्षात्कार हो रहा है।* अन्तःकरण मे अद्भुत् शान्ति छा जाती है। और सबसे बड़ी बात यह है कि अन्य मादक वस्तुओं की भाँति लत नहीं पड़ती। जब उस अनुभूति की इच्छा हो सेवन किया जा सकता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं प्रतीत होता कि सोम लता कोई ऐसी ही औषधि थी जिसके रस मे यह गुण था। वह साधना मे सहायक होती थी, इसलिए उसे पिया जाता था, भंग और मदिरा की भाँति नशे के लिए नही। उसके प्रभाव से साधक को सिद्धि प्राप्त होती थी। उस सिद्धि को 'वाज' कहते थे। यह सोम का चरम स्वरूप था। साधारण मनुष्य ऐसी ऊँची अनुभूति का पात्र नही होता, इसीलिए सोम को ब्राह्मणों का, ब्रह्मजिज्ञासुओं का, राजा कहा गया था। यह भ्रान्त विचार है कि आर्य्य सोम के नशे के शौकीन थे और उन्होंने इस मादक द्रव्य को देवपद दे दिया था।

सोम की निश्चय ही गणना देवो मे है। वैदिक प्रणाली के अनुसार देव-सूची मे ऐसा नाम आया है जो एक विशेष प्रकार के पेय द्रव्य से सम्बन्धित है। वस्तुतः न तो नशे का नाम सोम देव है, न नशा करनेवाले पदार्थ का। सोम के सम्बन्ध मे कहा गया है :

त्वं नः सोम विश्वतो वयोधास्त्वं स्वर्विदा दिशान् चक्षाः।
त्वं इन्द्व ऊतिभिः सजोषाः पाहि पश्चादुत वा पुरस्तात् ॥

---

*इसको मोमेन्ट आफ़ ट्रूथ—सत्य का क्षण कहा गया है।

'हे सोम, तुम हमारे पूर्ण रूप से अन्नदाता हो, स्वर्ग प्राप्त कराने वाले हो और मनुष्यो को देखने वाले हो। मनुष्यो के समस्त गुण दोषो तथा पुण्य-पाप के साक्षी हो। हे इन्दु आप स्तुतियो से प्रसन्न होते हैं। हमारी आगे पीछे सब ओर रक्षा कीजिए।'

बहुत से मन्त्रो मे सोम को इन्दु नाम से सबोधित किया गया है। इन्दु चन्द्रमा का भी नाम है।

अब तक मैंने देवो के सम्बन्ध के कुछ ऐसे विचारो की चर्चा किया है जो मेरी राय मे भ्रामक हैं। इनमे वह मत जिसको पाश्चात्य विद्वानो ने अगीकार किया है बहुत ही ग़लत है। उन लोगो ने पहिले से कुछ सिद्धान्त स्थिर कर लिए और फिर वेद को बलात् उसी साचे म कसने का प्रयत्न किया। यह प्रयास निष्फल है। स्वामी दयानन्द जी का मत अशत यथार्थ होते हुए भी सर्वत्र लागू नही होता। पर वह भारतीय परम्परा के प्रतिकूल नही है। मैंने अब तक यह बताने का यत्न नहीं किया है कि वेद के अनुसार देव किसे कहते हैं। स्वमत की प्रतिष्ठा न करके केवल परमत दूषण किया है। अपना मत आगे निवेदन करूँगा। परन्तु इतना तो कह सकता हूँ कि एक ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हुए भी बहुदेव-वाद, अर्थात् बहुत से देवो के अस्तित्व को स्वीकार करने मे, कोई अडचन नही पडती।

तीसरा अध्याय

देव और देवता

देवों के स्वरूप के सम्बन्ध में निर्णयात्मक विचार होने के पहिले देवता शब्द के संबंध में विमर्श बहुत आवश्यक है। हिन्दी और भारत की दूसरी लोकभाषाओं मे यह शब्द देव का समानार्थक हो गया है, यहाँ तक कि इसका प्रचार देव से अधिक देख पड़ता है। देवी इसका स्त्रीलिंग रूप है।

संस्कृत मे ऐसा नही है। वहाँ देवता स्वयं स्त्रीलिंगात्मक शब्द है। ऋग्वेद के प्रत्येक मंत्र के साथ इस बात का निर्देश है कि इस मंत्र का अमुक छंद है, इसका अमुक देवता से सम्बन्ध है, अमुक ऋषि द्वारा प्रकट हुआ है, और इसका अमुक विनियोग है, अर्थात् अमुक अवसर पर इससे काम लिया जाता है। देवता शब्द तो स्त्रीलिंग का है पर जो नाम आते है वह प्रायः पुल्लिगात्मक है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि हिन्दी में यों कहा जायगा : अमुक मंत्र की देवता इन्द्र है, अमुक की विष्णु है, अमुक की रुद्र है, इत्यादि। विलक्षण बात है। इसका कोई विशेष ही कारण होगा कि पुरुष नामो के साथ स्त्रीवाचक उपाधि जोड़ी जाय। प्राचीन काल के ऋषिगण और उनके परवर्ती ऋषि लोग इतनी संस्कृत तो जानते रहे ही होंगे, उनके भाष्यकारो को भी सस्कृत व्याकरण का ज्ञान था ही, फिर ऐसा, प्रयोग ही क्यो किया गया? यह महत्वपूर्ण शंका थी। परन्तु किसी कारण से, प्राच्य या पाश्चात्य, वेद के अर्वाचीन, विद्यार्थियो का ध्यान इधर नहीं गया। यदि मत्र के रचयिता का यह बतलाना उद्देश्य होता कि अमुक-अमुक मत्र का अमुक-अमुक देव से सम्बन्ध है तो सीधे देव शब्द का प्रयोग होता, देवता क्यो लिखते?

जो लोग ऐसा कहते है कि वेद मे केवल ईश्वर का चर्चा है उनको भी इस सम्बन्ध में कुछ विचार करना चाहिए। उनके मत मे वेद मे रूढ़ि शब्द नही

वरन केवल यौगिक शब्द हैं। यदि कहीं विष्णु शब्द आया तो वह किसी मनुष्य या मनुष्येतर व्यक्ति का नाम नहीं है। जो व्याप्नाति, सब जगह व्यापक है, वह विष्णु है। यह लक्षण ईश्वर का है, अत विष्णु शब्द ईश्वर के लिए आया है। इस बात को मान लेने पर इन्द्र, अग्नि, मरुत, सूय, सभी नाम ईश्वर के हो जायगे, सभी मन्त्रो का सम्बन्ध ईश्वर से होगा। जब सभी मन्त्र ईश्वर देवन हैं तब फिर पृथक् नामो की आवश्यकता क्या है? एक बार इतना कह देने से काम चल जाता कि यह सब मन्त्र ईश्वरपरक है। यह भी विचारणीय है कि पृथक सूक्तो और मन्त्रो मे पृथक् नाम क्या आये हैं, एक नाम पर्याप्त होता। कोई कारण तो होना चाहिए कि कही यह कहा गया कि इस सूक्त की देवता इन्द्र है, अन्यत्र इसी प्रकार अग्नि,रुद्र आदि नामो से ईश्वर की ओर सकेत किया गया।

वस्तुत वैदिक वाङ्मय मे देवता का अथ देव से भिन्न है। इस भेद को समझने के लिए वैदिक दशन का थोडा सा ज्ञान आवश्यक है। वेद दर्शन शास्त्र की पुस्तक नही है, उसमे तक नही है, शास्त्राथ नही है, मतो का खडन मडन नही है। परन्तु एक विचारधारा है जो समूचे वेद मे अनुस्यूत है, वही समूची वदिक धारणाओ, मान्यताओ और आदेशो का आधार है।

यह जगत् अनादि और अनन्त है। ऐसा कोई काल नही था जब यह नही था, ऐसा कोई काल नही होगा जब यह न होगा। जिसका आदि न हो उसके प्रारम्भ की कल्पना कैसे की जाय, परन्तु मानव बुद्धि की दुबलता कही न कहीं से आरम्भ बिन्दु मानकर आगे बढ़ने को विवश करती है। जगत् की सत्ता तो बराबर रहती है, परन्तु उसकी अवस्था बदलती रहती है। एक अवस्था ऐसी आती है जब सारा विश्व सिमिट कर अपने मूल मे लय हो जाता है। इस अवस्था को सकोच या प्रतिसचर कहते हैं। सभी भौतिक पदाथ अपने सूक्ष्मतम रूप का धारण कर लेते हैं। यहाँ विस्तार के साथ इस विषय पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है। सक्षेप मे रूपरेखा मात्र दे रहा हूँ। इतना ही कहना पर्याप्त है कि उस अवस्था मे दिन, रात, क्षिति, तेज, आप, वायु, आकाश का कोई भेद नहीं रहता, कोई इन्द्रिय नही रहती, मन नही रहता, न देवगण रहते हैं, सब कुछ अव्यक्त, अविभक्त। नासदीय सूक्त (१०, १२) के अनुसार

"एकोऽहं बहुस्याम"—उसने कामना की, मैं एक हूँ, बहु, अनेक, हो जाऊँ। तब भावी जगत् का स्वरूप उसके सामने आता है।

स तूष्णीं मनसाध्यायत्तस्य यन्मनस्यासीत् तद्बृहत् समभवत्।

(ताण्ड्य ब्राह्मण ७, ६, १)

'उसने चुपचाप मन से सोचा। जो उसके मन में था वह बृहत्, बड़ा, विस्तृत होता गया।'

इसके आगे सृष्टिक्रम के विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है। लोगों के संस्कारों के अनुसार नया जगत् बना। यथापूर्वमकल्पयत्—अपूर्व के अनुसार बनाया। स्थूल सूक्ष्म के भेद से जगत् में कई स्तर हैं। तदनुसार आदि देव परमात्मा ने भी अपने को अग्नि, वायु और आदित्य तीन मुख्य रूपों में अभिव्यक्त किया। ऐसा कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि परमात्मा तीन देवों में विभक्त हो गया, उसके तीन टुकड़े हो गये। ऐसा नहीं है। अग्नि आदि तीनों देव सम्पूर्ण परमात्मा हैं। जैसा कि कहा है

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।

'पूर्ण में से पूर्ण निकालने पर पूर्ण ही बचता है।'

जो अग्नि है, वही वायु है, वही आदित्य है, वही परमात्मा है। जो आधिभौतिक स्तर पर अग्नि है, वही आधिदैविक स्तर पर वायु है वही आध्यात्मिक स्तर पर आदित्य है। सम्पूर्ण विश्व में जो कुछ भौतिक, मूर्तिमान, है उसमें परमात्मा अग्निरूप से व्याप्त है, जहाँ गति है वहाँ वह वायु रूप से वर्त्तमान है। जहाँ समन्वय, सन्तुलन, चेतना है वहाँ आदित्य रूप से स्थित है। सूर्य्य सब से ऊँचा स्तर है इसीलिए कहा है

सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च

'आदित्य गतिशील और स्थितिशील दोनों का आत्मा है।'

ज्यों-ज्यों जगत् का विस्तार और विकास बढ़ा त्यों-त्यों आद्याशक्ति, परमात्मा की परा शक्ति, का भी विस्तार और विकास होना अनिवार्य्य था। वह एक थी परन्तु परिस्थिति के अनुसार उसकी अभिव्यक्ति अनेक रूपों में हुई। जीवों के सुख दुख सम्पादन के लिए, उनकी वासनाओं की तृप्ति और आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए, अनेक प्रकार के काम करने होते हैं। तदनुरूप ही शक्ति अपना रूप व्यक्त करती है। हम इनमें से कुछ रूपों से परिचित हैं। ताप, विद्युत् वेग, मांसपेशियो का बल, भूख, प्यास, नाड़ितन्तुओं को परिचालन करनेवाली स्फूर्ति, प्रतिभा, योगियों द्वारा उत्थापित कुण्डलिनी, यह सब शक्ति के ही तो भेद हैं। विभिन्न शास्त्र इनका अध्ययन करते हैं।

शक्ति के इन भेदों को देवता कहते हैं। इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि शक्ति के भेद अनन्त हैं, अर्थात् देवता असंख्य हैं। शक्ति का पर्याय होने से देवता शब्द स्त्रीवाचक है। देवताओं की कोई संख्या नहीं है, अतः उनकी कोई सूची नहीं दी जा सकती। यजुर्वेद के इस मंत्र में कुछ देवताएँ इस प्रकार गिनायी गयी हैं :

'अग्नि देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवताऽदित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता।' इन नामों की संख्या बारह है इनसे यह न समझना चाहिए कि देवता कुल बारह हैं। मरुत् ४९ हैं, रुद्रों को **असंख्याता सहस्त्राणि**-असंख्य सहस्र बताया गया है और **विश्वेदेवाः** सब देवों की कोई निर्दिष्ट संख्या नहीं कही गयी है।

स्त्रीवाचक देवता शब्द के साथ पुरुषवाचक इन्द्रादि नामों को जोड़ना विशेष वैदिक परम्परा है। इन्द्र का अर्थ ऐन्द्री शक्ति, विष्णु का वैष्णवी शक्ति, रुद्र का रौद्री शक्ति है। ऐन्द्री आदि शक्तियों का ठीक-ठीक स्वरूप क्या है, उनसे क्या-क्या काम होते है, यह अध्ययन और अनुसन्धान का विषय है। परन्तु इन शक्तियों का यथार्थ रूप कुछ भी हो, जब किसी मंत्र के साथ इन्द्रादि

का नाम सम्बद्ध होता है तो वह सम्बन्ध इन्द्रादि नाम के किन्ही विशेष देवा से नही परन्तु तत्तत् शक्ति से सूचित होता है। 'मत्र की देवता' कहने का यही अभिप्राय है।

मत्र के साथ देवता का सम्बन्ध जोडने का विशेष कारण है। मत्र देखने मे तो वाक्य, शब्दो का समूह, होता है जिसका अर्थ सामान्यत व्याकरण और कोष की सहायता से निकाला जा सकता है। परन्तु मत्र इतना ही नही है। वह शब्दा का ही नही प्रत्युत ध्वनियो का समूह माना जाता है। ठीक ठीक उच्चारण करने से मत्र के अक्षरा से जो सयुक्त ध्वनि निकलती है उसी मे मत्र का मत्रत्व है। अर्थ तो दूसरे शब्दो से व्यक्त किया जा सकता है परन्तु दूसरे शब्दो मे वह ध्वनि नही मिल सकती। इसीलिए मत्र का अनुवाद फलदायक नही माना जाता, अर्थबोधक भले ही हो।

ध्वनि वह प्रतिक्रिया है जो कम्पन से हमारे मस्तिष्क मे होती है। कम्पन-भेद से ध्वनिभेद होता है। सगीत के स्वर तो हवा के कम्पन का परिणाम है, परन्तु कम्पन हवा तक ही सीमित नही है। जहा गति है, वहा कम्पन है गति ही कम्पन है। प्रत्येक गति, प्रत्येक कम्पन, प्रत्येक क्षोभ, हमारे अन्त-करण मे अपने को नाद, ध्वनि, शब्द रूप से व्यक्त करता है। जगत् के आरम्भ मे परमात्मा-पराशक्ति आत्मक युगलतत्व मे जो पहिला क्षोभ हुआ उसका सूचक प्रणव कहलाता है। शक्ति के प्रत्यक भेद के साथ विशेष प्रकार का स्पन्दन सम्बद्ध है। जब वैसी गति, वैसा कम्पन हो, वैसा स्पन्दन हो, तो शक्ति का वह भेद, वह प्रकार, प्रकट होगा। दूसरे शब्दो मे, प्रत्येक देवता के साथ विशेष प्रकार का स्पन्दन सम्बद्ध है। ऐसा माना जाता है कि जब कोई मत्र ठीक विधि से पढा जाता है तो उसमे पर्य्यावरण मे जो कम्पन होता है उसका द्विवा प्रभाव होता है। एक ओर तो वह पढनेवाले के नाडिजाल और मस्तिष्क को विशेष रूप मे प्रताडित करता है, दूसरी ओर शक्ति के सर्वव्यापी विशाल सागर को क्षुब्ध करके तरगित करता है। आग सर्वत्र है। पर जहा रगडने से क्षोभ होता है वहाँ वह प्रकट हो जाती है, इसी प्रकार मत्र पाठ के द्वारा विशेष प्रकार का क्षोभ उत्पन्न करने से विशेष प्रकार की शक्ति प्रकट हो जाती है। इसी से कहते

हैं कि मंत्र-विशेष से देवता विशेष उद्बुद्ध होती हैं, जाग जाती है। मन्त्र के साथ देवता के संकेत का यही कारण है।

यदि मंत्र-पाठ मे त्रुटि हुई तो ऐसा हो सकता है कि कुछ भी प्रभाव न हो या उलटा प्रभाव पड़ जाय। इसीलिए कहा है 'मंत्रो हीनः स्वरतोवर्णतोवा' वाग्वज्र के समान यजमान को मार सकता है अर्थात् मन्त्र के स्वर या वर्ण में भूल होने से मंत्र वज्र के समान उलटे यजमान का ही विनाश कर सकता है।

अस्तु, अमुक अमुक मंत्र की देवता रुद्र है कहने का तात्पर्य यह हुआ कि उस मंत्र का यथोपदेश पाठ करने और उचित ढंग से विनियोग करने से यजमान के लिए रौद्री शक्ति का उद्बोध होगा, वह उस काम को कर सकेगा जो रौद्री शक्ति के द्वारा किया जा सकता है। वेदो मे मन्त्र के नाम से जितने वाक्य दिये हुए है वे सब मंत्र है या नही, यह पृथक् प्रश्न है। इस प्रश्न का उत्तर परीक्षा साध्य है और परीक्षा तप. साध्य है। शास्त्रोक्त विधि से जप करने से ही विदित हो सकेगा कि मन्त्रविशेष देवताविशेष को उद्बुद्ध करता है या नहीं। जो मंत्र इस कसौटी पर नहीं उतरते वे निर्वीर्य्य हैं, निष्फल है, वस्तुत. मन्त्र नहीं है।

इस सब का निष्कर्ष यह है कि वेदो मे सर्वत्र नही तो बहुत से स्थलों पर देव शब्द देवतावाचक है अर्थात् देव कहने से किन्ही विशेष शक्तिसम्पन्न मनुष्येतर महान् व्यक्तियों से अभिप्राय नही है : ऐसे स्थलो पर देवताओं, परा शक्ति के विशेष भेदो की ओर संकेत है। अग्नि, वायु, आदित्य, इन्द्र, आदि व्यक्तियों के नही, शक्तियो के नाम हैं।

जैसा कि मैं पहिले कह चुका हूँ, शक्ति के असंख्य रूप हैं, देवताओ की गणना नहीं हो सकती। इनमे से कुछ का उद्बोध तो अपने काम के लिए हम भौतिक साधनो से कर लेते है। विज्ञानविद् अपनी प्रयोग शाला मे ऐसा करता है। चिकित्सक, इंजिनियर, शस्त्रनिर्माता, अपने अपने व्यवसाय मे कुछ देवताओ से खेलते हैं, आज विज्ञान ध्वनि से काम लेकर कई रचनात्मक और ध्वंसात्मक शक्तियो का उपयोग करना सीख रहा है। इन कामों को मनुष्य अपनी

बुद्धि से कर लेता है। वेद तो उन शक्तियों, देवताओं, को जगाने की विधि बतलाता है जिनके उद्‌बोधन का, जिनसे काम लेने का, मार्ग मनुष्य अपने से नहीं निकाल सकता।

ऐसा नहीं मानना चाहिए कि देवता की मीमांसा करने में हम पाश्चात्य विद्वानों के मत का समर्थन कर रहे हैं। जिन शक्तियों तक बरबर मनुष्य की बुद्धि पहुँच सकती है वे वैदिक देवताओं से बहुत दूर और बहुत नीचे हैं।

चौथा अध्याय

देव शब्द का मुख्य और वास्तविक अर्थ-साध्य देव

यदि वेद मे कही देव शब्द का व्यवहार परमात्मा के लिए हुआ है तो उसको भ्रान्त या अयथार्थ नही कह सकते। इसी प्रकार जहाँ जहाँ वह देवता-वाचक है वहाँ-वहाँ भी प्रयोग को ठीक ही कहना होगा। बहुत जगहो मे देव शब्द बहुवचनान्त आया है और जिस सन्दर्भ मे व्यवहृत हुआ है वहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि किन्ही विशेष व्यक्तियो की ओर सकेत है। बहुवचनान्त प्रयोग भी कभी-कभी गौणार्थ मे आया है, यथा :

नैनं देवा प्राप्नुवन् पूर्वमर्षत्

'उसको पूर्वकाल मे देव गण पकड़ नही सके।' यहाँ प्रसंग बताता है कि देव शब्द इन्द्रियो के लिए आया है। इसी प्रकार का गौण अर्थ देवासुर संग्राम के चर्चा मे भी व्यक्त किया गया है। देवो और असुरो का युद्ध चलता ही रहता है। कभी देव और कभी असुर जीतते है। कभी-कभी देव बुरी तरह पराजित होते है, तब परमात्मा की शरण मे जाते है। फिर उनका उद्धार होता है।

सम्भव है देवासुर सग्राम की कथाओ मे किन्ही ऐसे वास्तविक युद्धो की स्मृतियाँ छिपी हो जिनमे कभी आर्य्यगण को सम्मिलित होना पडा हो। परन्तु जो कथाएँ आज हमारे सामने हैं उनसे तो यही प्रतीत होता है कि यह रूपक हैं। भौतिक लड़ाई के रूप मे मानस संघर्षो का चित्रण है, मनुष्य की नैतिक

अनैतिक प्रवृत्तियाँ, उसकी उदार और सकुचित भावनाएँ, उसकी धार्मिक अधार्म्मिक चेष्टायें ही देव और असुर हैं। कभी-कभी अच्छी प्रवृत्तियाँ प्रबल तो हो जाती हैं परन्तु बाद मे मनुष्य के चित्त मे अभिमान घर कर लेता है। यदि यह अभिमान गलित न हो तो उसका पतन होता है। कठोपनिषद् मे दिखलाया है कि अपनी विजय पर गर्व करने वाले देवो के अभिमान को उमा हैमवती ने चूर्ण किया। इस विषय पर अगले खण्ड मे विस्तार से विचार होना है इसलिए इसे यही छोडता हूँ।

देवो के सम्बन्ध मे जो बातें वेद मे यत्र तत्र फैली हुई मिलती है उनका निष्कर्ष यह है

जगत् के प्रत्येक सचय या विस्तार काल मे, प्रत्येक उस काल मे जो दो सकोचो या प्रलयो के बीच मे आता है, कुछ न कुछ महातपस्वी, योगीश्वर होते ही हैं। यह लोग चाहे तो मोक्ष का आनन्द ले सकते है पर ऐसा करते नही। दूसरे जीवो के हित की दृष्टि से दूसरा जन्म धारण करना स्वेच्छया स्वीकार करते हैं। कुछ महायोगी ऐसे भी होते हैं जो अभी मोक्ष पदवी तक नही पहुँचे हैं परन्तु सविकल्प समाधि की ऊँची भूमिकाओ तक पहुँच गये हैं। सकोच के समय यह सब परमात्मा मे प्रवेश करके दीर्घ आध्यात्मिक सुषुप्ति मे डूब जाते हैं। जब नये जगत के बनने का काल आता है, परमात्मा क्षुब्ध होता है, हिरण्यगर्भ रूप से उसके सामने भावी जगत की रूपरेखा आ जाती है, तो फिर सोई हुई सभी आत्माएँ जागती हैं, पुरा कल्प के तपस्वी भी जागते हैं। यही नये कल्प के, नये जगत् के, देवगण होते हैं।

इन्ही को लक्ष्य करके कहा गया है

अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेन

(नासदीय सूक्त)

'सृष्टि के बाद देवगण आये।'

इन देवो को आजानदेव भी कहते है। ऐसा कहा जाता है कि यह लोग 'नाक' मे रहते हैं। नाक शब्द न, अ, क, इन तीन अक्षरो से मिलकर बना है। क का अर्थ है सुख, अक का अर्थ हुआ असुख अर्थात् दुःख, न अ क हुआ न असुख

अर्थात् न दुःख, अर्थात् सुख। तात्पर्य्य यह है कि नाक सर्वत्र है और कहीं नही है। वह किसी विशेष जगह् वसा नगर नही है, चित्त की विशेष सुखमय अवस्था है। नाक को स्व. या स्वर्ग भी कहते है। इन देवों ने पिछले सर्ग मे दीर्घतप से सिद्धि का अर्जन किया है। यों तो योगी को अनेक विभूतियाँ हो सकती है परन्तु पृथक्-पृथक् महात्मा ने पृथक्-पृथक् देवता, पृथक्-पृथक् शक्ति, पर विशेष रूप से अधिकार पाया है। उसी के अनुरूप उसकी संज्ञा होती है। जिसने विशेष रूप से वैष्णवी शक्ति, विष्णु नाम की देवता, को सिद्ध किया है वह विष्णु देव है। इसी प्रकार कोई इन्द्र, कोई यम, कोई रुद्र कहलाता है। उनसे प्रार्थना की जा सकती है, उनकी उपासना की जा सकती है। ऋगादि वेदो में जो भी अर्चना के मंत्र हैं वह उन्हीं लोगो की सेवा मे अर्पित है। तप और श्रद्धा के सहारे मनुष्य उनका कृपा पात्र वन सकता है। इसीलिए उनको साध्य देव भी कहते हैं।

इनके अतिरिक्त एक और प्रकार के देवगण भी होते है। जो लोग इस जन्म मे तप और पुण्य में जीवन विताते हैं वह भी मृत्यु के उपरान्त कुछ काल तक नाक का अनुभव करते है। उनको सुख मिलता है परन्तु कोई शक्ति विशेष नही होती। उनको 'कर्म्मदेव' कहते हैं। कुछ काल के वाद उनका नया जन्म होता है। उनकी उपासना नही की जाती।

साध्यदेव जीवो के कल्याण मे कालयापन करते है। जिस प्रकार वड़ा भाई हाथ पकड़कर छोटे भाई को चलना सिखाता है उसी प्रकार वह दुर्वल जीवों को सहारा देकर धर्म्मपथ पर ले चलते है। कभी दड भी देते है परन्तु वह भी प्राणियो के हित के लिए, जैसे कि कुशल चिकित्सक रोगी के हित के लिए कभी-कभी कडवी औषध देता है। साधारणत. तो कुछ काल तक जीवों की सेवा करके यह लोग विरत हो जाते हैं और जिस मोक्ष को अव तक टाल रखा था उसकी सिद्धि में लगते है। उनके लिए भूर्लोक मे मनुष्य शरीर मे जन्म लेना आवश्यक नही है। स्वर्लोक या उसके ऊपर के लोको से ही मोक्ष पद पा सकते है। वृह-दारण्यक उपनिषद् मे किन्ही इन्द्र का प्रजापति से व्रह्मज्ञान का उपदेश लेना वतलाया गया है। इससे मिलती जुलती धारणा वौद्ध धर्म्म मे वोधिसत्व के लिए है। जो लोग निर्वाण प्राप्ति के अधिकारी होते हुए जीवो पर दया करके स्वेच्छया

एक और जन्म लेना स्वीकार करते हैं उनको बोधिसत्व कहते हैं। अंतिम शरीर धारण करने पर वही लोग बुद्ध होते हैं।

मनुष्यो के देवत्व प्राप्त करने का चर्चा वेदो मे कई जगह आया है। जो लोग वेदोक्त विधि से रहते हैं उनके लिए कहा गया है

ते ह नाकं महिमान सचन्त यत्र पूर्वे साध्या सन्ति देवा
। ऋक् १०, ९०, १६ ।

'वह लोग नाक मे, जहाँ प्राचीन साध्य देव रहते हैं, महिमाओ को, महती अनुभूतियो को, प्राप्त करते हैं।'

यही मत्र प्रथम मडल के १६४ वें सूक्त के ५०वें मत्र के रूप मे भी मिलता है।

मनुष्य के देवत्व प्राप्त करने का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद के प्रथम मडल के ११० वें सूक्त के तीन मत्रो। ४ से ६ मे ऋभुवो का चर्चा है। ऋभुओ की गणना देवो मे होती है। यह तीन भाई सुधन्वा के पुत्र थे। यह तीन **अमर्त्येषु श्रव इच्छमाना** तथा उपम नाधमाना—अमर्त्यों अर्थात् देवो की भाँति हवि पाने की इच्छा रखने वाले और सोमपान, की याचना करने वाले थे। इन्होने। **मर्तास**, मरणशील मनुष्य, होते हुए भी **विष्ट्वी शमी तरणित्वेन वाघतो**, त्वरा के साथ वेदोक्त यज्ञदानतप करते हुए "**अमृतत्वमानशु**"—अमृतत्व का, देवपद को, प्राप्त किया। वह लोग "**सूरचक्षस**," सूर्य्य के समान प्रकाशमान् और ज्ञान सम्पन्न, हो गये तथा "**सवत्सरे समपृच्यन्त धीतिभि**"—सवत्सर मे समय-समय पर होने वाले यज्ञयागादि मे हवि और सोम का अश पाने के अधिकारी हो गये। जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, कर्म्म देवो को यह अधिकार नही होता। जो लोग आजान देव पद पर पहुँचते हैं उनको ही उद्दिष्ट करके आहुति दी जाती है और सोम चढ़ाया जाता है। दुख सुख मे उन्हीं से सहायता माँगी जाती है, उन्हीं के सामने अपनी याचनाएँ रखी जाती हैं।

इन प्रार्थनाओं के स्वरूप पर दृष्टिपात करने से देवों के स्वभावों और कामों के विषय में बहुत कुछ जानकारी हो सकती है। आर्य्यों की सबसे महत्त्वपूर्ण प्रार्थना तो वह है जो आज भी गायत्री मंत्र के नाम से परम आदर की दृष्टि से देखी जाती है। सबके सामने उसका उच्चारण तक नहीं किया जाता। उस मंत्र के द्रष्टा विश्वामित्र थे। परमात्मा के तेज के प्रतीक स्वरूप सविता—सूर्य्य के उस तेज का ध्यान किया जाता है "धियो यो नः प्रचोदयात्" जो हमारी बुद्धि को प्रेरित करे। हम धन जन नहीं माँगते, यही चाहते हैं कि हमारी बुद्धि काम-क्रोधादि से प्रेरित न हो, स्वयं परमात्मा से प्रेरित हो। इसी प्रकार विश्वामित्र रुद्र से यह चाहते हैं कि "स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु" वह हमको शुभ बुद्धि प्रदान करे। इससे सुन्दर और पवित्र दूसरी कौन-सी प्रार्थना हो सकती है? ऐसी प्रार्थना दाता और आदाता दोनों की महत्ता की सूचक है।

जब कभी इस ऊँचे स्तर से उतर कर ब्योरेवार इच्छाएँ व्यक्त की जाती थीं उनके भी उदाहरण देखिए:

देवाना भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां, देवाना रातिरभि नो निवर्तताम्।
देवानां सख्यमुपसेदिमा वयं, देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे॥
। १, ८९, २ ।

'देवों की कल्याणमयी सुमति हम अनुष्ठानकर्ताओं पर हो, देवों का दान हमको मिलता रहे, देवों का सख्य, मित्रता हमको प्राप्त हो, देवगण हमको आयु प्रदान करें।'

सायं प्रात. सन्ध्या करनेवाले नित्य सूर्य्योपस्थान करते समय एक मंत्र पढते है परन्तु उसके अर्थ की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। उसमे बहुत ही सुन्दर प्रार्थना है :

जीवेम शरदः शतम्, पश्येम शरदः शतम्।
शृणुयाम शरदः शतम्, प्रब्रवाम शरदः शतम्।
अदीनाः स्याम शरदः शतम्।

'हम सौ वर्ष जियें। सौ वर्ष तक देखें।' चक्षुरिन्द्रिय सभी ज्ञानेन्द्रियों का प्रतीक

मानी जाती है। अत सौ वप देखें का अय हुआ हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ सौ वप तक काम देती रह। सौ वप तक सुनें। श्रवणेन्द्रिय की गणना ज्ञानेन्द्रियो मे है, अत उसका पृथक नाम लेना व्यथ है। परन्तु वेद को श्रुति कहते हैं और गुरुमुख से ज्ञान ग्रहण करने को भी श्रवण कहते हैं। अत सौ वप तक सुनें कहने का तात्पय्य यह है कि हम सौ वप तक ज्ञानोपार्जन करते रहे। सौ वप तक बोलें। वाक् सब कर्म्मेन्द्रियो का प्रतीक है। अत सौ वप तक बोलें कहने का आशय यह है कि हमारी कर्म्मेन्द्रियाँ सौ वर्ष तक काम देती रहें। अन्त म कहा है कि हम सौ वप तक अदीन रहे, किसी के आश्रित न हो। वह मनुष्य धन्य होगा, जिसकी यह प्राथना स्वीकार हो जाय। कहा जाता है 'शतायुर्वै पुरुष' मनुष्य शतायु होता है। इसलिए सौ वप कहने का अथ है यावदायु, पूण आयु भर।

सब लोग सदैव ऐसे ऊँचे स्तर की बात नही कर सकते। आवश्यकता पडने पर देवो से धन, पशु, सन्तति और स्वास्थ्य की भी याञ्चा होती थी। युद्ध मे विजय की भी कामना की जाती थी।

अस्माक वीरा उत्तरे भवन्तु अस्मान् उ देवा अवताहवेषु।

'हमारे वीरो की विजय हो, देवगण युद्धो मे हमारी रक्षा करें।'

क्रोध म आकर यह इच्छा भी कभी-कभी व्यक्त की जाती थी कि "योऽस्मान् द्वेष्टि, य च वय द्विष्म" उसको "जम्भेदध्म", जो हमसे द्वेष करता है और जिससे हम द्वेष करते हैं उसको दाँतो के नीचे रखकर पीस डालें।

मनुष्य अपनी बुद्धि के अनुसार अच्छी बुरी वस्तुओ की माँग करता रहता है, परन्तु प्रत्येक माग पूरी नही होती। आजकल तो हमने यह मान रखा है कि हम देवो से चाहे जो काम ले सकते हैं। झूठे सच्चे प्रत्येक काम मे सहायता माँगते हैं और यदि काम दैवात् हो गया तो देवो को धन्यवाद भी देते हैं। पहिले ऐसा नही था। उपासक जानता था कि 'सत्यप्रिया हि देवा' देवगण निश्चय ही सत्य के प्रेमी है। वह अधम्म को प्रश्रय नही देते, दुराचारी या कुवेर के पाश मे फँसना पडता है। एक मत्र कहता है

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय, सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।
तयोर्यत् सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत् ॥
। ७, १०४, १२ ।

'इस बात को विद्वान् लोग भली भांति जानते है कि सत्य और असत्य बातो मे स्पर्धा होती रहती है। उनमे जो सत्य और अकुटिल है उसको सोम रक्षा करते है और असत्य का हनन करते है।'

मै आशा करता हूँ कि इस विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि देवों के विषय मे आर्य्यो की धारणा क्या थी और देव शब्द का किस अर्थ मे व्यवहार होता था। इन्द्रादि नाम रूढि हो या न हों परन्तु योगरूढि तो है ही।

वेद जहाँ देवो के नानात्व का चर्चा करता है वहाँ मनुष्य जीवन के चरम लक्ष्य की ओर भी बराबर सकेत रहता है।

ऋचो अक्षरं परमेव्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति, य उ तद्विदुस्त इमे समासते ॥
। ऋक् १, १८४, ३९ ।

वेद मंत्र परम व्योम* मे अक्षर ब्रह्म के आश्रित हैं जिसके ही ऊपर या भीतर सब देवों का निवास हैं। जो उसको, उस अक्षर ब्रह्म को, नहीं जानता वह वेद के शब्दो को पढकर क्या करेगा ? जो लोग उसको जानते हैं, वह सम्यक् रूप से स्थित होते है, अर्थात् मोक्ष प्राप्त करते है।

दो शब्द असुरो के सम्बन्ध मे भी कहना आवश्यक है। जहाँ आज इराक है प्राचीन काल मे वहाँ शक्तिशाली असीरियन साम्राज्य था। कई विद्वानो का मत है कि असीरियन शब्द असुर का अपभ्रंश है और देवासुर सग्रामों के व्याज

---

* परम व्योम किसी लोक विशेष का नाम नहीं है। यह उस चरमावस्था की संज्ञा है जिसका अनुभव योगी को समाधि में होता है।

से उन लड़ाइयों का चर्चा है जो कभी आर्य्यों और असीरियन लोगों मे हुई थी। ऐसा होना असम्भव नहीं है। मनुष्य की सत्प्रवृत्तियों के लिए देव और असत्प्रवृत्तियों के लिए असुर शब्द का व्यवहार हुआ है, ऐसा भी प्रतीत होता है। परन्तु इनके अतिरिक्त एक और भी अर्थ विशेष है, ऐसा देख पड़ता है।

जहाँ विश्व मे परोपकारी सर्वभूतहितेरत सत्त्व है वहाँ दूसरो का अपकार करने वाले भी हैं। ऐसे सत्व भी हैं जिनका अन्तःकरण रागद्वेष तथा ईर्ष्या से भरा है, जो दूसरो का उत्कर्ष सहन नहीं कर सकते, सत्कार्य्यों मे बाधा डालते हैं। उन्होंने भी कुछ तप किया है, कुछ सिद्धि कमायी है, कुछ शक्ति का सचय किया है। उसका दुरुपयोग करते हैं। ऐसे अल्पाशय क्षुद्रमना प्राणियो के लिए रक्षासि, राक्षस, असुर या विनायक जैसे नाम आये हैं। वेद, विशेषत अथर्ववेद, मे इनके शमन के उपाय बताये हुए हैं। इनको यज्ञादि से दूर रखा जाता है। जब शव को श्मशान ले जाते थे तब भी इन लोगो को दूर ही रखते थे। उनसे कहा जाता था

अपेत वीत वि च सर्पतात

'दूर रहो, यहाँ से हट जाओ।'

पाँचवाँ अध्याय

वैदिक देव परिवार

चौथे अध्याय मे देवों का कुछ परिचय दिया गया है। यों तो देव असंख्य हैं परन्तु मुख्य देवो की सख्या तैंतीस है, जिनमें वसु, रुद्र और आदित्य नाम के तीन गण तथा इन्द्र और प्रजापति हैं। ऋभु, आभास्वर तथा कुछ और गणों के नाम सुनने मे आते है पर उनका अन्तर्भाव इन्ही तैंतीस मे हो जाता है।

देव परिवार के कुछ विशिष्ट सदस्यो का थोड़ा-सा परिचय देना आवश्यक प्रतीत होता है। इससे उन परिवर्तनो को समझने में सुविधा होगी जो वैदिक काल के पीछे हुए।

अग्नि

कई दृष्टियो से अग्नि का स्थान बहुत ऊँचा है। वह हव्यवाहन हैं, उन्हीं के द्वारा अन्य देवों को हवि पहुँचायी जाती है। उनको रुद्र से अभिन्न माना गया है। उपासक उनसे कहता है : "युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः" हमसे कुटिल पापो को दूर करो। उनको व्रतो का, शुभ संकल्पो का, स्वामी कहते हैं। किसी भी अच्छे अनुष्ठान के पहिले उनसे इस प्रकार की प्रार्थना की जाती है।

"अग्ने व्रतपते, व्रतं चरिष्यामि, तच्छकेयं तन्मे राध्यताम् इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि"

'हे व्रतपते अग्नि, मैं व्रत, अनुष्ठान, करूँगा। उसको सम्पन्न

करिए, मुझको शक्ति दीजिए कि उसे पूरा कर सकूं। यह मैं मिथ्याचार का परित्याग करके सत्य को अंगीकार करता हूँ।'

प्रजापति

प्रजापति हिरण्यगर्भ का नाम है। इनका ही दूसरा नाम ब्रह्मा है। हिरण्यगर्भ वस्तुत परमात्मा से अभिन्न हैं, इस बात को यह मन्त्र व्यक्त करता है

प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥
। शुक्लयजुर्वेद ३१, १९।

'वस्तुत अजायमान, अज, अजन्म, होते हुए भी प्रजापति गर्भ में आते हैं और अनेक प्रकार से जन्म लेते हैं। उनके वास्तविक स्वरूप को, जिसमें सभी भुवन स्थित हैं, धीर लोग, योगी जन, देखते हैं।'

प्रजापति ही विश्वकर्मा हैं, सारे चराचर जगत् के रचयिता हैं। उनके सम्बन्ध में कहते हैं

वाचस्पतिं विश्वकर्म्माणमूतये मनोजुवं वाजे हुवेम।
स नो विश्वानि हवनानि जोषद्विश्वशम्भूरवसे साधुकर्म्मा॥
। १०, ८१, ७।

'हम आज मनोवेग से चलने वाले वाचस्पति विश्वकर्म्मा को यज्ञ में बुलाते हैं। वह हमारे सब हवनों को स्वीकार करें। वह साधुकर्म्मा हैं, सबका कल्याण और सब की रक्षा करें।'

पीछे के काल में विश्वकर्म्मा की दुर्गति कर दी गयी। उनको एक मिस्त्री या घर बनानेवाले कारीगर के स्तर पर गिरा दिया गया। दूसरों की आज्ञा पर

घर बनाते फिरते थे। कृष्ण के आदेश पर सुदामा के प्रासाद बनाने की कथा प्रसिद्ध ही है।

बृहस्पति

इस नाम के एक देव हैं और अंगिरा गोत्र के एक ऋषि हैं। यह स्पष्ट नहीं है कि ऋषि बृहस्पति ही बृहस्पति देव हो गये या दोनों दो व्यक्ति हैं। बृहस्पति बृहताम्पति, वाक्पति, वाणी के स्वामी हैं। उनका एक नाम ब्रह्मणस्पति भी है। उसका अर्थ है, ब्रह्मण, ब्रह्म के, वेद के, पति। यह सब नाम एक ही ओर ले जाते हैं। पहिले अध्याय में हम देख चुके हैं कि वाक् के चार रूप हैं जिनमें सब से सूक्ष्म परा है जिसका अनुभव किसी महायोगी को ही होता है। वाक्पति होने का अर्थ है परावाक् का ज्ञाता होना। दशम् मंडल के ७१वें सूक्त में स्वयं बृहस्पति दृष्ट कई मंत्र वाक् के सम्बन्ध में हैं।

वैदिक काल के बाद बृहस्पति की भी मर्य्यादा नष्ट कर दी गयी और वह देवों के पुरोहित बनाकर बैठा दिये गये। उनकी जोड़ में असुरों के पुरोहित उशना, शुक्र, खड़े कर दिये गये।

विष्णु

विष्णु के तीन पद चलने का कई जगह चर्चा है। उन्होंने बहुत वेग से तीन पदों में विश्व को पार कर लिया इसलिए बहुधा उनके नाम के साथ उरुक्रम विशेषण लगा रहता है। उनको उपेन्द्र और इन्द्रावरज—इन्द्र का छोटा भाई, भी कहते हैं। बहुत से युद्धों में उन्होंने इन्द्र का साथ दिया है, इन्द्र के विशेष रूप से विश्वासपात्र हैं। इसलिए इन्द्रस्य युज्यः सखा, इन्द्र का प्रिय साथी, इन्द्र की इच्छा के अनुसार काम करनेवाला मित्र, भी कहा गया है। विष्णु उपास्य हैं परन्तु उनकी उपासना सुकर नहीं है :

> **तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते।**
> **विष्णोर्यत्परमं पदम्** । १, २२, २१।

'विष्णु के परमपद को मेधावी, स्तुतिशील, सदा जागरूक लोग दीप्तिमान करते हैं, देखते है।

रुद्र

रुद्र का रूप घोर भी है और अघोर भी है। अघोर रूप मे उनकी शिव, शम्भु, शकर सज्ञा है। कुछ पाश्चात्य विद्वान् तो ऐसा मानते हैं कि रुद्र को आर्य्यों ने अनार्य्यों से लिया है। उनको यह समझने म कठिनाई होती है कि एक ही देव सहारक और कल्याणकारी कैसे हो सकता है। हम इस सबन्ध मे आगे विचार करेंगे। मनुष्यो को यह उपदेश दिया गया है

आ वो राजानमध्वरस्य रुद्र होतार सत्ययज रोदस्यो ॥
अग्नि पुरा तनयित्नोरचित्ताद्धिरण्यरूपमवसे कृणुध्वम् ॥
। ४, ३, १ ।

'हे मनुष्यो, वज्रपात के समान यकायक आनेवाली मृत्यु के पहिले यज्ञ के स्वामी, द्यावापृथिवी मे सत्यज्ञान के दाता, तेजोमय, अग्नि के समान दोषों के भस्म करने वाले, रुद्र की रक्षा के लिये उपासना करो।'

इन्द्र

वेदो मे इन्द्र के सम्बन्ध मे जितने मन्त्र हैं उतने अन्य सब देवो के लिए मिलाकर भी नहीं हैं। अधिकाश मन्त्रो मे इन्द्र अकेले है, परन्तु कहीं-कहीं उनके साथ किसी अन्य देव, जैसे वरुण या अग्नि, का भी नाम आया है। इन्द्रदैवत अर्थात् इन्द्र के सम्बन्ध रखनेवाले मन्त्रो मे चुनाव करना कठिन होता है परन्तु। मैं जो बहुत थोड़े से अवतरण दे रहा हूँ उनसे यह तो स्पष्ट हो ही जायगा कि आर्य्य जीवन में इन्द्र का क्या स्थान था। इनसे यह भी पता चल जायगा कि पौराणिक काल मे इन्द्र को कितना नीचे गिराया गया। इन्द्र को तो स्थानभ्रष्ट कर दिया गया, परन्तु उनकी जगह कोई दूसरा न ले सका, वह स्थान आज भी रिक्त है। राम, कृष्ण ऊपर उठे परन्तु इन्द्र जैसा ओज, वीर्य्य या तेज उनमे नहीं है। वह दासता

में जकड़े हुए निस्तेज हिन्दू को दुःख भुला देने मे सहायता देते है परन्तु विजय का सन्देश नहीं सुनाते : आँसू पोछ देते हैं, परन्तु स्फूर्ति नही दे सकते। ऐसा मार्ग नही बताते जिससे आँसू बहे ही नही। आज का "कर्ता राम करै सोई होय" कहकर रोने गाने वाला हिन्दू कर्ण की इस उक्ति से बहुत दूर चला गया है "दैवायत्तं कुले जन्म, मदायत्तं तु पौरुषम्" दैव ने जिस कुल में चाहा जन्म दे दिया, परन्तु पौरुष मेरे हाथ की वस्तु है। इन्द्र को छोड़कर हम सत्वहीन हो गये। यदि हमको ऊपर उठना है तो फिर इन्द्र की शरण जाना होगा, चाहे हम उनको किसी नाम से स्मरण करें।

य एकश्चर्षणीनाम् वसूनामिरज्यति। इन्द्रः पंचक्षितीनाम्।

'जो इन्द्र अकेले सब मनुष्यों और सब धनादि मूल्यवान् वस्तुओं के स्वामी है।' वेदो मे मनुष्यो को पंचजनाः, पंचक्षितयः, जैसे शब्दो से उपलक्षित किया गया है। किस आधार पर पचधा विभाग किया गया था यह स्पष्ट नही है। सायण के अनुसार ब्राह्मणादि चार वर्ण और निषाद से तात्पर्य्य है। पर यह समीचीन नही प्रतीत होता।

यः पृथिवीं व्यथमानामदृहद्यः पर्वतान्प्रकुपितानरम्णात्।
यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो यो द्यामस्तभ्नात् स जनास इन्द्र॥

यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोर-मुते माहुर्नैषो अस्तीत्येनम्।
सो अर्यः पुष्टीर्विज इवा मिनाति श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः॥

यस्याश्वासः प्रदिशि यस्य गावो यस्य ग्रामा यस्य विश्वे रथासः।
यः सूर्य्यं य उषसं जजान यो अपां नेता स जनास इन्द्रः॥

यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसे हवन्ते।
यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो अच्युतच्युत् स जनास इन्द्रः॥

। २, ७२, २, ५, ७, ९।

'जिसने जगत् के आदि काल मे हिलती हुई पृथिवी को दृढ किया और कुपित अर्थात् अस्थिर और कम्पनशील पर्वतों को शान्त किया, जिसने विस्तीर्ण अन्तरिक्ष को बनाया और द्युलोक को स्तब्ध किया, लोगो, वही इन्द्र हैं।

'जिसके सम्बन्ध मे लोग पूछते हैं कि वह कहा हैं, कोई कहता है कि वह नही हैं, वह शत्रु के धनादि का विनाश करते रहते हैं, इसी से यह विश्वास होना चाहिए कि इन्द्र हैं।'

'जिसके वश मे विश्व भर के सभी पशु, सभी मनुष्य, सभी उपभोग्य सामग्री है, जिसने सूर्य्य और उषा को बनाया, लोगो, वही इन्द्र हैं।'

जिसके बिना विजय नही होती, जिसको युद्ध मे रक्षा के लिए बुलाते हैं, जो विश्व का प्रतिमान, प्रतिनिधि, है, जो अच्युतो को भी च्युत करने वाला है, लोगा वह इन्द्र हैं।'

इन्द्र यो नर सख्याय सेपुर्महो यन्त सुमतये चकाना ॥
महो हि दाता वज्रहस्तो अस्ति महायुरण्व अवसे यजध्वम ॥
। ६, २९, १ ।

'हे यजमान, तुम्हारे यज्ञ कराने वाले इन्द्र की इसलिए परिचर्य्या करते हैं कि उनका सख्य प्राप्त हो और उनसे सुमति, सद्बुद्धि मिले, इन्द्र वज्रहस्त, बलवान् और दाता हैं, तुम रक्षा के लिए उनका यजन करो।'

कदा त इन्द्र गिवण स्तोता भवानि शातम
। ८, १३, २२।

'हे इन्द्र, हम कब सुख के साथ तुम्हारी स्तुति करेंगे।'

इस मन्त्र की ध्वनि रावणकृत शिवताण्डवस्तोत्र मे मिलती है

'शिवेति मन्त्रमुच्चरन् कदा सुखी भवाम्यहम्'—शिव शिव मन्त्र जपता हुआ मैं कब सुखी हूँगा।

विश्वेत इन्द्र वीर्य्यं देवा अनुक्रतुं ददुः।
भुवो विश्वस्य गोपतिः पुरुष्टुत भद्रा इन्द्रस्य रातयः। ८, ६२, ७।

'हे इन्द्र, तुम्हारे वीर्य्य और प्रज्ञा का अनुसरण करके सब देवगण वीर्य्य और प्रज्ञा को धारण करते हैं अर्थात् तुम्हारे ही बल से शक्तिमान् और प्रज्ञावान् हैं। आप सब स्तुतियों के स्वामी हैं, आपकी स्तुति बहुत लोग करते हैं। इन्द्र के दान, इन्द्र की दी हुई वस्तुएँ, कल्याणकारी होती हैं।'

आप सब स्तुतियों के स्वामी हैं इस विश्वस्य गोपतिः की ध्वनि प्रचलित उक्ति में मिलती है, 'सर्वदेवनमस्कारं केशवं प्रतिगच्छति।'

'सब देवों को किया हुआ नमस्कार केशव को पहुँचता है।'

इन्द्राय सामगायत विप्राय बृहते बृहत्।
धर्म्मकृते विपश्चिते पनस्यवे॥

त्वमिन्द्राभिभूरसि त्वं सूर्य्यमरोचयः।
विश्वकर्म्मा विश्वदेवो महां असि॥ ८, ९८, १, २।

'इन्द्र के लिए बृहत् नाम के साम का गान करो। इन्द्र मेधावी हैं, महान् हैं, धर्म्मकर्त्ता हैं, विद्वान् हैं और स्तुति के पात्र हैं। हे इन्द्र, तुम शत्रु विजयी हो, तुमने सूर्य्य को प्रकाश दिया है, तुम विश्व के कर्ता हो, तुम्हीं सब देव हो, तुम महान् हो।'

इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्या इन्द्रो अपामिन्द्र इत्पर्वतानाम्।
इन्द्रो वृधामिन्द्र इन्मेधिराणामिन्द्रः क्षेमे योगे हव्य इन्द्रः॥

। १०,८९, १०।

'इन्द्र द्युलोक—स्वर्ग के, इन्द्र पृथिवी के, इन्द्र जल के और पर्वतों के, इन्द्र

वृद्धो के आर प्राणीलो के स्वामी हैं। क्षेम और योग* दोना के लिए इन्द्र ह्व्य हैं, उपास्य ह।'

आस्तिक घरा मे रुद्री—रुद्राष्टाध्यायी के पठन पाठन का चलन है। बहुत से अवसरा पर इसका पाठ होता है। आठ अध्यायो मे यजुर्वेद के कई अध्यायो से चुने हुए मन्त्र आ गये हैं। आठवें अध्याय मे जो मन्त्र है उनमें मन्त्र के द्वारा विभिन्न पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा प्रकट की गई है। हर मन्त्र के अन्त मे यज्ञेन कल्पन्ताम शब्द आये हैं।

इसमे दो मन्त्रा १६ और १७ मे कई देवा के नाम हैं। सब मिलाकर १२ नाम आये हैं और बारह बार ही इन्द्र का नाम आया है। प्रत्येक देव के नाम के के साथ इन्द्र का नाम आता है। उदाहरण के लिए १६ वाँ मन्त्र देखिए।

> अग्निश्चमऽइन्द्रश्च मे सोमश्च मऽइन्द्रश्च मे सविता च
> मऽइन्द्रश्च मे सरस्वती च मऽइन्द्रश्च मे पूषा चमऽइन्द्रश्च
> मे बृहस्पतिश्चमऽइन्द्रश्च मे यज्ञेन कल्पताम्।

इसका यही तो अर्थ हो सकता है कि और सब देवगण तो यज्ञ मे कृपा करें ही परन्तु इन्द्र तो अवश्य ही आवें।

> इन्द्रो ब्रह्मेन्द्र ऋषिरिन्द्र पुरू पुरुहूत। महान्महीभि शचीभि।
> । ८, १६, ७ ।

'इन्द्र ब्रह्मा और ऋषि हैं, इन्द्र को सब पुकारते हैं, इन्द्र महती शक्तियो से युक्त हैं।'

मैं अब केवल दो अवतरण देना चाहता हूँ। इनमे से दूसरे का अर्थ तो बहुत ही गम्भीर है।

---

* अप्राप्त की प्राप्ति को योग और प्राप्त की रक्षा को क्षेम कहते हैं।

त्वं विश्व दीधषे केवलानि न्याविर्या च गुहा वसूनि।
काममिन्मे मघवन्मा वि तारीस्त्वमाज्ञाता त्वमिन्द्रासि दाता॥
। १०, ५४, ५ ।

'हे इन्द्र, जो प्रकट और गुप्त तत्व किसी दूसरे को ज्ञात नहीं हैं, उनको तुम जानते हो। इसलिए, हे मघवन्, मेरी इच्छा को पूरी करो, मुझ पर वह तत्व प्रकाशित करो। तुम ही आज्ञाता हो, तुम ही दाता हो।'

दूसरा मंत्र इस प्रकार है :

चत्वारि ते असुर्याणि नामादाभ्यानि महिषस्य सन्ति।
त्वमंग तानि विश्वानि वित्सेये येभिः कर्माणि मघवञ्चकर्थ॥ १०,५४,४।

'हे महान् इन्द्र, तुम्हारे चार ऐसे नाम हैं जिनकी कोई हिंसा नहीं कर सकता। उनके द्वारा तुमने कर्म्म किये थे। उन सब को तुम्हीं जानते हो।'

इस मंत्र का अर्थ निगूढ़ है। नाम गोप्य हैं, उनका कहीं उल्लेख नहीं है। नामों के द्वारा काम करने का क्या अर्थ है? इस विषय में थोड़ा-सा संकेत अगले सूक्त के मंत्रों में मिलता है। वस्तुतः यह विषय योगगम्य है।

वृहदारण्यक उपनिषद् में इस बात का चर्चा है कि दैत्यराज विरोचन के साथ इन्द्र ब्रह्मा के पास ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के लिए गये थे। दैत्यराज तो थोड़े ज्ञान से सन्तुष्ट होकर लौट गये परन्तु इन्द्र ने चार सौ वर्ष तक गुरुकुल में श्रद्धापूर्वक निवास करके ज्ञान प्राप्त किया। उनका नाम आयुर्वेद के आचार्यों में भी आदर के साथ लिया जाता है। वैदिक आर्य्य इन्द्र को देवराज कहकर पुकारता था, उनसे युद्ध में विजय की कामना करता था और सदा ही अन्न, धन, पशु और सन्तति की आशा रखता था पर वह उनके तात्विक स्वरूप को भी जानता था। इन्द्र परमात्मा से अभिन्न हैं, इस बात का साक्ष्य यह मन्त्र देता है :

यदचरस्तन्वा वावृधानो बलानीन्द्र प्रब्रुवाणो जनेषु।
मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रु ननु पुरा विवित्से ॥
। १०, ५४, २ ।

'हे इन्द्र, लोगों में तुम्हारे शरीर और बल का जो चर्चा है वह तुम्हारी माया है। तुम्हारे जो युद्ध बताये जाते हैं वह भी माया हैं। न आज तुम्हारा कोई शत्रु है, न पूर्वकाल में तुमसे किसी से युद्ध हुआ था।'

मरुत्

मरुत् का पर्याय वायु है, लोक में यह नाम अधिक प्रचलित है। यह उन शब्दों में है जिनकी व्याख्या बहुधा अयथार्थ रूप से होती है। वेदों के अनुसार परमात्मा मर्त्य लोक में अग्नि रूप से, द्युलोक में आदित्य रूप से और मध्य लोक में वायु रूप से व्याप्त है। अग्नि का अर्थ केवल आग नहीं हो सकता। वह दावाग्नि-जठराग्नि, बडवाग्नि मात्र ही नहीं है, ऊर्जा के सभी भेद अग्नि के ही भेद हैं। इतना ही नहीं, चेतन की चेष्टाएँ भी अग्नि से ही स्फूर्त हैं। इसीलिए कहा है कि हे अग्नि, तुम मर्त्यों में अमर्त्य हो। इसी प्रकार द्युलोक, देवलोक की सारी सूक्ष्म चेष्टायें आदित्य के आश्रित हैं। मध्य लोक या अन्तरिक्ष का स्वामी वायु है। अन्तरिक्ष किसे कहते हैं, इस सम्बन्ध में बड़ी भूल होती है। ऐसा मान लिया जाता है कि पवन मंडल ही अन्तरिक्ष है। इस अवस्था में अन्तरिक्ष की पहुँच भूतल से चार पाँच सौ मील होगी। यह भूल है। अन्तरिक्ष में ग्रहनक्षत्र-सकुल सारा आकाश है। मरुत् के उनचास भेदों में प्रवह है जो नक्षत्रों को गति प्रदान करता है। जहाँ भी गति है, कम्पन है, वहीं मरुत् देवता अभिव्यक्त हैं।

अधर्म के विरुद्ध युद्ध करने में मरुद्गण इन्द्र के प्रबल सहायक रहे हैं। उनसे प्रार्थना की गयी है

देवसेनानामभिभञ्जतीनाम् जयन्तीनाम् मरुतोयन्त्वग्रम् ।

'शत्रुओं का मर्दन करती हुई विजयिनी देवसेना के आगे मरुद्गण चलें।'

वरुण

आजकल वरुण केवल जल के अधिष्ठाता रह गये है। वैदिक काल में उनका पद बहुत ऊँचा था। लोक मे धर्म्म का अनुष्ठान कराना और उन्मार्ग-गामियो को दण्ड देना उनका विशेष काम था। दुष्कर्म्म करने वालों को वह उस पाश मे बाँधते थे जो बराबर उनके हाथ मे रहता था। पाश से छुटकारा पाने की बार-बार प्रार्थना होती है। सोम और रुद्र से निवेदन है :

प्र नो मुञ्चतं वरुणस्य पाशाद् गोपायतं नः सुमनस्यमानाः
। ६, ७५, ४ ।

'आप लोग प्रसन्न होकर हमारी रक्षा करें और वरुण के पाश से छुटकारा दिलावे ।

उपासक वरुण से कहता है :

यत्किञ्चेदं वरुण दैव्येजनेऽभिद्रोहं मनुष्याश्चरामसि।
अचित्ती यत्तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देवरीरिषः॥
। ऋक् ७, ८९, ५ ।

'हे देव वरुण, हमने जो कुछ देवो का द्रोह किया हो या मनुष्यो का अपकार किया हो या प्रमादवश तुम्हारे धर्म्म से विमुख हुए हो, उस पाप के लिए हमारी हिंसा मत करो।'

अश्विद्वय

इन दोनो देवो को हम आजकल प्रायः बिल्कुल भूल गये हैं। पुराणो मे इतना चर्चा तो आता है कि यह दोनो भाई जुड़वाँ थे, सूर्य्य के पुत्र थे और अश्वरूपिनी माता के पेट से पैदा हुए थे। इनका काम देव लोक मे चिकित्सक का बताया गया है परन्तु आयुर्वेद के आचार्य्यो मे इनकी गणना नही है। वेद मे

इनका स्थान बहुत ऊँचा है। इनका नाम नासत्य भी है। ऐसा प्रमाण मिलता है कि यह दोनो भाई नासत्य नाम से भारत के बाहर भी कहीं-कहीं पूजे जाते थे। इनके सबन्ध के जो मत्र मिलते है उनको देखने से यह लोकसग्रह की जगम मूर्ति प्रतीत होते हैं। दीन दुखियो की सहायता करना ही इनका मुख्य काम है। चाहे किसी प्रकार का कष्ट हो, यह उसे दूर करने को उद्यत रहते हैं। सहायता इन्द्र भी करते हैं, परन्तु इन्द्र का रोब छाया रहता है, मैं बडे के सामने हूँ, यह भाव बना रहता है, अश्विया के साथ स्नेह और आपसदारी की भावना जागती है। उनके व्यवहार मे अनौपचारिकता रहती है। ऋग्वेद के प्रथम मडल के ११२वें सूक्त मे २५ मत्र हैं। इनमे अश्विद्वय से ही सद्बुद्धि, धन, अन्न और रक्षा की प्रार्थना की गयी है और उन बहुत से लोगो के नाम दिये गये हैं जिनको अश्विया ने समय समय पर विपत्तियो से छुडाया था। सूची बहुत लम्बी है। किसी को शत्रुओ ने बाँध कर कुएँ मे डाल दिया था, किसी का जहाज समुद्र मे डूब रहा था, कोई आग से जलाया जा रहा था। ऋजाश्व ऋषि अन्धे थे, उन्हे आँख मिली। औशिमज वणिक के लिए मेघ बरसाया, जघा टूट जाने से चलने मे असमर्थ विश्पला के घर पर ही धन का ढेर लग गया। मनुष्य ही नही, इतर जीव भी उनकी कृपा के पात्र थे। वर्तिका नाम की चिडिया भेडिये के चगुल से छुडाई गयी। खेद की बात है कि हम ऐसे परोपकारी और लोक हितकारी देवा को भुला बैठे। देव लोग तो अमर, अमर्त्य, अजर, और अस्वप्न कहलाते हैं, पता नही उनमे कोई रोगी कैसे होता है। जिन आधारो पर अश्विया को चिकित्सक माना जाता है, उनकी झलक इस मत्र मे मिलती है

> त्रि नो अश्विना दिव्यानि भेषजा, त्रि पार्थिवानि त्रिरु दत्तमद्भ्य ।
> ओमानम् शयोर्ममकाय सूनवे, त्रिधातु शर्म वहत शुभस्पती ॥
> । १, ३४, ६ ।

आगिरस हिरण्यस्तूप ऋषि कहते हैं

'हे अश्विद्वय, आपने द्युलोकवर्ती, पार्थिव और अन्तरिक्षवर्ती औषधियाँ हमको तीन बार दी। बृहस्पतिपुत्र शयु को ओमा नाम का जो विशेष गुण प्राप्त है, वह मेरे पुत्र को दिया। आप त्रिधातु (वात, पित्त, कफ) को शमन

करने वाली औषध हमको प्राप्त करावें। आप शुभ पदार्थों के स्वामी हैं।'

यम

देव सूची में यम का नाम देखकर कुछ लोगों को आश्चर्य हो सकता है क्योंकि यम को सहायक और कल्याणकारी नहीं माना जाता। वैदिक काल में ऐसा नहीं था। नीचे कुछ ऐसे मंत्र दिये जा रहे हैं जिनमें सद्योमृत व्यक्ति को सम्बोधित किया गया है। इनसे यम के स्वरूप का भान होता है।

यमो नो गातुं प्रथमं विवेद, नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ।
यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुरना जज्ञानाः पथ्या अनुस्वाः। १०, १४, २।

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्राः नः पूर्वे पितरः परेयुः।
उभा राजाना स्वधया मदन्ता, यमं पश्यासि वरुणं च देवम्।१०,१४,७।

'सबसे पहिले यम ने हमारी गति को जाना। उनका मार्ग नष्ट नहीं किया जा सकता। हे जीव, जिस मार्ग से हमारे पूर्व पितृगण गये और जहाँ वह गये, तुम भी उनका अनुसरण करो। जाओ, जाओ, उन पथों से जिनसे हमारे पूर्व पितृगण गये हैं। हमारे दिये हुए हवि से प्रसन्न हुए यम और वरुण दोनों राजाओं को देखोगे।'

'सबसे पहिले यम ने हमारी गति को जाना' कहने का विशेष अभिप्राय है। ऐसा माना जाता है कि यम पहिले मनुष्य थे जिनकी मृत्यु हुई। पारसियों के ग्रंथ अवेस्ता में भी यही बात लिखी है। वहाँ यम का नाम यिम हो गया है। इतना ही नहीं, और भी सादृश्य है। यम के पिता का नाम विवस्वान् था, इसीलिए यम को वैवस्वत कहते हैं। अवेस्ता में उनके पिता का नाम विवनघत लिखा है। ऐसा माना जाता है कि यम के साथ सदा दो कुत्ते रहते हैं। एक का रंग काला है, दूसरे का श्वेत—**द्वौ श्वानौ श्याम शबलौ।**

नीचे हम एक ऐसा मंत्र देते हैं जिसमें पुनर्जन्म की ध्वनि निकलती है। मृत व्यक्ति की आत्मा से कहते हैं :

सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रतितिष्ठा शरीरैः॥
। १०, १६, ३।

'तुम्हारी आँख सूर्य को प्राप्त हो और आत्मा वायु को, अपने धर्म के अनुसार स्वर्ग जाओ या पृथिवी पर रहो, यदि तुम्हारा हित हो तो जल में जाओ या औषधियों के शरीरों में रहो।'

ऐसा प्रतीत होता है कि सूर्य और वायु में चक्षु और आत्मा के मिलने की बात आशीर्वादात्मक है। शेष में जीव के धर्म के, उसके कर्मों के संस्कारों के, अनुसार नये शरीर पाने की ओर संकेत है।

कुबेर

आजकल की धारणा के अनुसार कुबेर यक्षों के राजा हैं। उनका नगर अलकापुरी बदरीनाथ से भी उत्तर है। वह स्वयं शंकर के पार्षद हैं और देवलोक के कोषाध्यक्ष हैं। परन्तु किसी समय उनका स्थान बहुत ऊँचा रहा होगा। आज भी जब कभी कोई यज्ञ या वैदिक, अर्द्ध वैदिक कृत्य होता है तो ब्राह्मण लोग यह आशीर्वाद पढ़ते हैं

राजाधिराजाय प्रसह्य साहिने नमो वयं वैश्रवणाय कुर्महे।
स मे कामान् कामकामाय मह्यं कामेश्वरो वैश्रवणो ददातु।
कुबेराय वैश्रवणाय महाराजाय नमः !

'हम लोग अति बलवान राजाधिराज वैश्रवण (विश्रवा के पुत्र) को प्रणाम करते हैं। वह कामेश्वर हमारे सब कामों को, इच्छित पदार्थों को, हमें दें। वैश्रवण महाराज कुबेर को प्रणाम।'

देवियाँ

कभी-कभी यह प्रश्न उठता है कि वैदिक देव परिवार में देवियाँ हैं या नहीं।

इस सम्बन्ध मे यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्येक देव के साथ उसकी शक्ति, साधारण वोलचाल मे उसकी पत्नी, सलग्न है। चाहे पृथक् उल्लेख हो या न हो, जहाँ देव है वही देवियाँ भी हैं। देवी ही देव को सशक्त करनेवाली देवता है। उसके विना देव निर्वीर्य्य है, सामान्य जीव है। यह तो सिद्धान्त की वात हुई। देवियो का स्पष्ट उल्लेख भी मिलता है :

देवानां पत्नीरुशतीरवन्तु नः प्रावन्तु नस्तुजये वाजसातये।
याः पार्थिवास्ते या अपामपि व्रते ता नो देवीः सुहवा शर्म यच्छत।

उतग्ना व्यन्तु देवपत्नीरिन्द्राण्यग्नाय्यश्विनीराट्।
आ रोदसी वरुणानी शृणोतु व्यन्तु देवीर्य ऋतुर्जनीनाम्॥
। ५, ४६, ७, ८।

'देवो की पत्नियाँ प्रसन्न होकर हमारी रक्षा करें। हमारे वलवान् पुत्रों की युद्ध मे रक्षा करे। जो देवियाँ पार्थिव है और जो अन्तरिक्षचारिणी है, वह सव हमारी प्रार्थना को शीघ्र सुनकर हमारा कल्याण करे।'

देव पत्नियां इन्द्राणी, आग्नेयी, अश्वियो की विराजमनापत्नी अश्विनी, रुद्राणी और वरुणानी सर्वतः सुनें और हवि को ग्रहण करें।'

पितृगण

पितरो की गणना देव परिवार के अंगो मे नही है, परन्तु वह उससे वहुत दूर भी नही हैं। वहुधा उनका नाम उसी आदर से लिया जाता है जिसके साथ देवो का स्मरण किया जाता है।

जिन लोगो की मृत्यु होती है उनको कई वर्गो मे वॉट सकते हैं। सर्वोपरि तो ब्रह्मज्ञानी, मुक्तपुरुप, आते है। इनको कही आना-जाना नहीं है, न पुनः शरीर धारण करना है। 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ते, न सपुनरावर्तते'—ऐसे वाक्यो मे इनकी स्थिति स्पष्ट कर दी गयी है। इनके वाद महायोगी आते है।

जैसा कि श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है 'जिज्ञासु प्रथम कल्पिक भी शब्दब्रह्म से ऊपर जाता है अर्थात उसकी गति वैदिक यज्ञ-याग करने वालों से प्रशस्त होती है। योगीश्वर अपनी योगसिद्धि के अनुसार महर्लोकादि लोकों को जाते हैं। वह अपना योगाभ्यास वहीं जारी रखते हैं, फिर मनुष्य शरीर नहीं धारण करते। गरुड पुराण में लाक्षणिक भाषा में लिखा है कि जब किसी ऐसे योगी के प्राण यम की संयमनीपुरी से होकर निकलते हैं तो यम खड़े होकर उनका अभिवादन करते हैं और कहते हैं कि आप ने कृपा करके हमारे नगर को पवित्र किया।

जो लोग घोर पापाचारी हैं वह निरय या नरक में जाते हैं। वेदों में इसके लिए तृतीय धाम शब्द आया है। इनको काल पाकर फिर शरीर धारण करना होगा। इसके विपरीत जो उग्र तपस्वी, साधक, पुण्यकर्म्मा मनुष्य हैं वह देवयान मार्ग से नाक को प्राप्त होते हैं। नाक को स्वर्लोक भी कहते हैं। यह लोग कर्म्मदेव होते हैं। नाक वह लोक है जहाँ आजान देवों, साध्यों, का निवास होता है।

सत्कर्म्मियों में ऐसे बहुत से लोग होते हैं जो न तो कोई विशेष तपश्चर्य्या करते हैं, न साधना, न किसी देव देवी की विशेष रूप से उपासना करते हैं परन्तु धर्म्ममय जीवन बिताते हैं। इनकी निष्ठा कर्तव्य पालन में ही होती है। यह वह लोग हैं जिनको कर्म्मयोगी भी कहते हैं। मरने पर ऐसे व्यक्ति पितृयान मार्ग से पितलोक को जाते हैं। इनको ही पितृ कहते हैं। धार्मिक जीवन बिताना, कर्तव्य का पालन करना, कष्ट सहकर भी सत्य, अहिंसा आदि यमों का पालन करते हुए सर्वभूतहिते रता, सब प्राणियों के हित में लगे रहना, बड़ा कठिन काम है। जो ऐसा जीवन निबाहता है वह बहुत बड़ा तपस्वी है। ऐसे लोग पितृगण में भी श्रेष्ठ होते हैं। बर्हिषद् और सोमपा पितर एक प्रकार से देव-तुल्य माने जाते हैं। उनके आशीर्वाद से उनके कुलवालों का ही नहीं मनुष्यमात्र का कल्याण होता है। पितरों में से कुछ तो सीधे देवलोक में चले जाते हैं, शेष पुनः मानव शरीर धारण करते हैं।

उपहूता पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु।
त आगमन्तु त इह श्रुवन्त्वधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्॥

। १०, १५, ५।

एक बात पहिले कह चुका हूँ, उसे फिर दुहराना चाहता हूँ। नाक, तृतीय धाम, पितृलोक यह सब दिग्वर्ती देश या नगर नहीं, प्रत्युत चित्त की अवस्थाएँ हैं। यह सर्वत्र हैं और कहीं नहीं हैं। कुछ लोगों का ऐसा विचार है कि स्वर्गादि के अस्तित्व को मानना पुनर्जन्म से मेल नहीं खाता। मुझ को इस में सामञ्जस्य का अभाव नहीं देख पड़ता। स्वर्गादि केवल भोगावस्थाएँ हैं, मनुष्यादि शरीर को धारण करना कर्म्म और भोग की मिली जुली अवस्था है। कोई व्यक्ति पुरस्कार योग्य कार्य करता है। पुरस्कार मिलने के पूर्व भी उसे सुख की अनुभूति होती है। इसी प्रकार अपराधी को दण्ड मिलने के पहिले दुःख की अनुभूति होती है। स्वर्गादि की स्थिति इन उदाहरणों से समझी जा सकती है।

छठाँ अध्याय

पौराणिक काल की भूमिका

पौराणिक काल से मेरा तात्पर्य्य उस काल से है जब कि मुख्य पुराण लिखे गये। पुराणो का सस्कार और सम्पादन तो बहुत दिनो तक होता रहा और थाडा बहुत अब भी हो रहा है। परन्तु उनकी रचना का काम प्राय उन शता-ब्दियो मे सम्पन्न हुआ जब कि भारत गुप्त सम्राटो के शासन मे था। जैसा कि कु हन राजा ने 'सर्वे आव सस्कृत लिटरेचर' मे दिखलाया है, पुराणो मे विक्रम की छठी शती के बाद का इतिहास प्राय नही मिलता। राम और कृष्ण की कथा तो रामायण और महाभारत मे भी है परन्तु इसके सिवाय पुराणो मे मौय काल के पहिले का बहुत कम वृत्तान्त मिलता है। मौय्य काल का भी अति सक्षिप्त वर्णन होता है। शु ग वश के हाथ मे शासन आने के बाद ही पुराण ग्रन्थो का लिखा जाना सम्भव था क्योकि इसके पहिले बौद्धो का बोल बाला था। शु गो के साथ फिर से वैदिक धम्म लौटा। प्रथम शु ग नरेश पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ करके पुन वैदिक यज्ञयागो को प्रोत्साहन दिया। गुप्तो के समय मे पुन स्थापित वैदिक धम्म अपने शिखर पर पहुँच गया। इन्ही शताब्दियो मे पुराण लिखे गये होगे।

चन्द्रगुप्त और अशोक के समय मे भी भारत का राजनीतिक स्थान बहुत ऊँचा था। विशाल साम्राज्य था, देश मे सुव्यवस्था थी, किसी विदेशी का यह साहस नहीं हो सकता था कि इस देश की ओर कुदृष्टि से देख सके। गुप्त सम्राटो का शासन क्षेत्र दक्षिण म तो कुछ छोटा हो गया था परन्तु पश्चिमोत्तर दिशा मे जहाँ शकादि न सिर उठाया था और भारत पर आक्रमण भी किया था गुप्त

सेना का शिविर मध्य एशिया की वक्षु नदी के तट पर होता था। देश के भीतर शान्ति थी, व्यापार व्यवसाय उन्नति पर था, प्रजा प्रसन्न थी। शासन का केन्द्र राजा था पर वह धर्म्म शास्त्रो के उदार नियमो के अनुशासन मे था, अत. प्रजा सुखी थी। किसी के धार्मिक आचार विचार मे बाधा पडने का प्रश्न ही नही उठता था।

शस्त्रेण रक्षिते राज्ये शास्त्रचर्चा प्रवर्तते—सुव्यवस्थित और सुरक्षित राज्य मे ही शास्त्र चर्चा को अवकाश मिलता है। इन शताब्दियो मे भारतीय प्रतिभा निखर उठी। उत्कृष्ट कोटि के काव्य ग्रन्थ लिखे गये और आयुर्वेद, व्याकरण, गणित की पुस्तकों की रचना हुई। न केवल हिन्दू वरन् बौद्ध और जैन वास्तु कला को भी विकसित होने का अवसर मिला। बौद्ध और जैन प्रभाव ने एक नयी कला, मूर्ति निर्माण, को जन्म दिया था। बौद्ध और जैन सम्प्रदायो के प्रवर्त्तक, गौतम बुद्ध और महावीर, ऐतिहासिक व्यक्ति थे। उन्होने अपने तप और वैराग्य से सर्वोच्च आध्यात्मिक उन्नति की थी; परन्तु थे तो मनुष्य ही। जिस काम को एक मनुष्य ने किया उसका दावा दूसरा मनुष्य भी कर सकता है। नये धर्म्म प्रवर्त्तक खड़े हो सकते हैं। इस बात को सिद्धान्ततः अस्वीकार नहीं किया जा सकता था। इन दोनो समुदायों मे यह मान्यता है कि गौतम और महावीर की भाँति दूसरे मनुष्य आगे भी होगे तो परन्तु आज से कई लाख वर्ष बाद। तब तक इन महापुरुषो के उपदेश ही पथप्रदर्शक रहेगे। ऐसे सम्प्रदायो मे जिनका कोई ज्ञात प्रवर्त्तक हो उसके व्यक्तित्व का महत्त्व होता ही है। बौद्ध और जैन ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नही करते परन्तु उनके यहाँ बुद्ध और महावीर के प्रति उतनी ही श्रद्धा दिखलायी जाती है जितनी कि अन्य लोग ईश्वर के प्रति रखते हैं। आदर के अतिरेक से प्रतीक स्वरूप इनकी मूर्तियाँ भी बनने लगी। मध्य एशिया मे उस समय ग्रीक लोग बस गये थे। उनमे अपने देव-देवियो की प्रतिमा बनाने का चलन था। इनका प्रभाव भारत पर पड़ना अनिवार्य था। बुद्ध की जो सबसे प्राचीन मूर्तियाँ मिलती हैं उनमे शरीर के अवयवो की आकृति नही है। केवल चरण या खडाऊँ है और सिर की ऊँचाई पर तेजः पुंज। धीरे-धीरे सारा शरीर बनने लगा। वैदिक उपासना मे प्रतिमा का पहिले चलन नही था, पीछे से बौद्धो और जैनों का अनुसरण करके देव-देवियो की मूर्तियाँ भी बनने लगी। इस मूर्ति कला

का भी गुप्त काल में बहुत विकास हुआ। मूर्तिकार अनेक भावों को मूर्ति में व्यक्त कर सकता था। इस प्रकार सौन्दर्यानुभूति का नया आधार मिला और देखने वालों को आध्यात्मिक तृप्ति का नया साधन।

तत्कालीन भारतीय नागरिक भाग्यशाली मनुष्य था। उसका राष्ट्रीय उन्नति के युग में जन्म हुआ था और राष्ट्र की उन्नति उसके निजी जीवन में प्रस्फुटित हो रही थी। उसको मनुष्य होने पर गर्व था

मनुष्यः कुरुते यत्तु तन्न शक्यं सुरासुरैः,
। मार्कण्डेय पुराण ।

'मनुष्य जो कर सकता है, उसे देव और असुर नहीं कर सकते।'

तत्कालीन आर्य्य को अपने देश पर भी बड़ा अभिमान था। विष्णु पुराण का एक श्लोक कहता है

गायन्ति देवाः किल गीतकानि,
धन्यास्तु ते भारतभूमि भागे,

स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते,
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥

'स्वर्ग में बैठे देवगण यह गीत गाते हैं कि जब पुण्य के क्षीण होने पर हमको पुनः मर्त्यलोक में जाना पड़ेगा तो हम में से जिन लोगों को स्वर्ग और मोक्ष के द्वारभूत भारत में पुनः मनुष्य देह मिलेगा वह धन्य होंगे।'

देश पर गर्व था और गर्व के साथ प्रेम था। अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त के यह मंत्र देखने योग्य है। यह सूक्त अथर्ववेद के द्वादश काण्ड के प्रथम अनुवाक का पहिला सूक्त है।

सेना का शिविर मध्य एशिया की वक्षु नदी के तट पर होता था। देश के भीतर शान्ति थी, व्यापार व्यवसाय उन्नति पर था, प्रजा प्रसन्न थी। शासन का केन्द्र राजा था पर वह धर्म्म शास्त्रों के उदार नियमों के अनुशासन में था, अतः प्रजा सुखी थी। किसी के धार्मिक आचार विचार मे बाधा पडने का प्रश्न ही नही उठता था।

-

शस्त्रेण रक्षिते राज्ये शास्त्रचर्चा प्रवर्तते—सुव्यवस्थित और सुरक्षित राज्य मे ही शास्त्र चर्चा को अवकाश मिलता है। इन शताब्दियो मे भारतीय प्रतिभा निखर उठी। उत्कृष्ट कोटि के काव्य ग्रन्थ लिखे गये और आयुर्वेद, व्याकरण, गणित की पुस्तको की रचना हुई। न केवल हिन्दू वरन् बौद्ध और जैन वास्तु कला को भी विकसित होने का अवसर मिला। बौद्ध और जैन प्रभाव ने एक नयी कला, मूर्ति निर्माण, को जन्म दिया था। बौद्ध और जैन सम्प्रदायो के प्रवर्त्तक, गौतम बुद्ध और महावीर, ऐतिहासिक व्यक्ति थे। उन्होंने अपने तप और वैराग्य से सर्वोच्च आध्यात्मिक उन्नति की थी; परन्तु थे तो मनुष्य ही। जिस काम को एक मनुष्य ने किया उसका दावा दूसरा मनुष्य भी कर सकता है। नये धर्म्म प्रवर्त्तक खड़े हो सकते हैं। इस बात को सिद्धान्ततः अस्वीकार नहीं किया जा सकता था। इन दोनो समुदायो मे यह मान्यता है कि गौतम और महावीर की भांति दूसरे मनुष्य आगे भी होंगे तो परन्तु आज से कई लाख वर्ष बाद। तब तक इन महापुरुषो के उपदेश ही पथप्रदर्शक रहेंगे। ऐसे सम्प्रदायो मे जिनका कोई ज्ञात प्रवर्त्तक हो उसके व्यक्तित्व का महत्त्व होता ही है। बौद्ध और जैन ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नही करते परन्तु उनके यहाँ बुद्ध और महावीर के प्रति उतनी ही श्रद्धा दिखलायी जाती है जितनी कि अन्य लोग ईश्वर के प्रति रखते है। आदर के अतिरेक से प्रतीक स्वरूप इनकी मूर्तियाँ भी बनने लगी। मध्य एशिया में उस समय ग्रीक लोग बस गये थे। उनमे अपने देव-देवियो की प्रतिमा बनाने का चलन था। इनका प्रभाव भारत पर पड़ना अनिवार्य था। बुद्ध की जो सबसे प्राचीन मूर्तियाँ मिलती है उनमे शरीर के अवयवो की आकृति नही है। केवल चरण या खड़ाऊँ है और सिर की ऊँचाई पर तेज पुंज। धीरे-धीरे सारा शरीर बनने लगा। वैदिक उपासना मे प्रतिमा का पहिले चलन नही था, पीछे से बौद्धो और जैनो का अनुसरण करके देव-देवियो की मूर्तियाँ भी बनने लगी। इस मूर्ति कला

का भी गुप्त काल मे बहुत विकास हुआ। मूर्तिकार और भावों को मूर्ति में व्यक्त कर सकता था। इस प्रकार सौन्दर्यानुभूति का नया आधार मिला और देखने वाले को आध्यात्मिक तृप्ति का नया साधन।

तत्कालीन भारतीय नागरिक भाग्यशाली मनुष्य था। उसका राष्ट्रीय उन्नति के युग में जन्म हुआ था और राष्ट्र की उन्नति उसके निजी जीवन मे प्रस्फुटित हो रही थी। उसको मनुष्य होने पर गर्व था

मनुष्याः कुर्वते यत्तु तन्न शक्यं सुरासुरैः,
। मार्कण्डेय पुराण ।

'मनुष्य जो कर सकता है, उसे देव और असुर नहीं कर सकते।'

तत्कालीन आर्य्य को अपने देश पर भी बड़ा अभिमान था। विष्णु पुराण का एक श्लोक कहता है

गायन्ति देवाः किल गीतकानि,
धन्यास्तु ते भारतभूमि भागे,

स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते,
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥

'स्वर्ग में बैठे देवगण यह गीत गाते हैं कि जब पुण्य के क्षीण होने पर हमको पुनः मर्त्यलोक में जाना पड़ेगा तो हम में से जिन लोगों को स्वर्ग और मोक्ष के द्वारभूत भारत में पुनः मनुष्य देह मिलेगा वह धन्य होंगे।'

देश पर गर्व था और गर्व के साथ प्रेम था। अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त के यह मंत्र देखने योग्य है। यह सूक्त अथर्ववेद के द्वादश काण्ड के प्रथम अनुवाक का पहिला सूक्त है।

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्।
गवां अश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु॥ ।५।

'जिस पृथिवी में हमारे प्राचीन पूर्वजनों ने अनेक काम किये हैं, जिसमें देवों ने असुरों से युद्ध किया था, जिसमें गऊ, अश्व और पक्षी रहते हैं, वह पृथिवी हमको धन और तेज दे।'

यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम्।
सा नो मधु प्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा॥७॥

'जिस सब कुछ देने वाली भूमि की प्रमादरहित होकर देवगण निरन्तर रक्षा करते हैं वह हमको मधुर और प्रिय पदार्थ दे और तेज प्रदान करे।'

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवी स्योनमस्तु।
बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम्।
अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवी महम्॥११॥

'हे पृथिवी तुम्हारे छोटे-बड़े और हिमाच्छादित पहाड़, तुम्हारे जंगल हमारे लिए सुखकर हों। मैं इस इन्द्र द्वारा रक्षित भूरी, काली, लाल, अनेक रंगोंवाली पृथिवी पर अजित, अहत और अक्षत होकर अधिष्ठित रहूँ।'

भूमे मातर्निधेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम्।
संविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्याम्॥६३॥

'हे मातः, भूमि, कल्याणकारिणी सुप्रतिष्ठा मुझमें स्थापित करो। हे कवि, मुझे स्वर्ग प्राप्त कराओ तथा लक्ष्मी और विभूति मुझे प्रदान करो।'

आजकल देश की भावनात्मक एकता पर बहुत जोर दिया जाता है। यह जोर देना सर्वथा उचित है। यह एकता पुराने भारत में बहुत कुछ विद्यमान थी। जिन दिनों बड़े साम्राज्य नहीं होते थे और देश राजनीतिक दृष्टि से

छिन्न-भिन्न दख पडता था उन दिना भी उसकी भावात्मक एकता बनी रहती थी। साहित्य समाज का दपण होता हैं। सस्कृत साहित्य इस बात का साक्षी है कि भारत के एक कोने से दूसरे कोन तक भारतीयो का अपने देश के प्रति अनन्यता थी। यह दश हमारा है, हम इसके ह, इसके ही हैं और यही हमारा है, यह भाव बना रहता था। कथामरित्सागर प्रसिद्ध कहानी-सग्रह है। उसमे एक प्रदेश वाले का दूसरे प्रदेश मे जाना, पढना, बस जाना, विवाह करना कितनी स्वाभाविक बात दिखलायी गयी है। कालिदास ने रघुवश मे इन्दुमती का स्वयवर दिखाया है। उसमे भारत के कोने कोने से राजा लोग आये हैं परन्तु भारत के बाहर का कोई नहीं। सारे देश मे फैले हुए तीथ स्थान, पवित्र पवत, नदी, नगर, महात्माओ के आश्रम, सबको खीचते थे और एकता का भाव उत्पन्न करते थे। सस्कृत भाषा एकता फैलाने का बहुत बडा साधन थी। सस्कृत के मच पर सभी प्रदेशा के विद्वान् मिल सकते थे और सस्कृत के वाङ्मय भडार को सभी ने भरा है।

बौद्ध और जैन सम्प्रदायो ने धार्मिक अखण्डता को तो कुछ क्षति पहुँचायी, फिर भी एकता का दुग हिला नहीं। वह लोग भी इसी देश के निवासी थे, उनके भी वही पूवज थे, वही आचार थे। सयोजक शक्तियाँ वियोजक तत्वा से अधिक बलवती थीं।

भारत का नागरिक इस वातावरण म पला था, इसने उसकी बुद्धि को निश्चय ही विशेष साचे मे ढाला था। गुप्त साम्राज्य के टूटन के बाद स्थिति बदली। हष का साम्राज्य एक पीढ़ी मे ही नष्ट हो गया। भारतीय को वह गर्वानुभूति फिर न हो सकी जो बडे राज्य के नागरिक होने से प्राप्त होती है। छोटे छाटे राज्य आपस म लडने मे रत थे। आर्थिक स्थिति भी गिर गयी, सुरक्षा की भावना भी जाती रही, देश के एक सिरे से दूसरे तक पय्यटन करना भी पहिले जैसा सुकर नही रह गया। भारतवासी का 'स्व' सकुचित हा गया।

वेद सम्मत धम्म पर उस काल की परिस्थितियो का प्रभाव पडना स्वाभाविक था। प्रत्यक्ष प्रभाव पडा। मौर्य्यकाल मे बौद्ध धम्म को राजाश्रय मिला। स्थान-स्थान पर भिक्षुओं के लिए विहार स्थापित हुए, राज के साधना से

तथागत के उपदेशों का प्रचार हुआ, विद्वान् और साधु इसे भारत के बाहर ले गये। अगत्या वेदों का पठन पाठन बहुत कम हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि वेदार्थ भी विस्मृत हो गया। जिन रहस्यों का वेद में परोक्ष रूप से समाधि भाषा में वर्णन था उनके जानने वाले न रहे। वेद की कुञ्जी ऐसी खोयी कि आज तक नहीं मिली। वैदिक यज्ञों में कई ऐसे थे जिनमें पशु आलभन, पशु की हिंसा होती थी। वह तो बन्द हो ही गये, उनके साथ दूसरे यज्ञयाग भी उठ गये। पुष्यमित्र ने अश्वमेध किया, द्वितीय चन्द्रगुप्त ने भी अश्वमेध किया पर इन सम्राटों का प्रयास भी यज्ञों को न लौटा सका। साधारण अग्निहोत्र और दर्श-पौर्णमास जैसे नित्य यज्ञों का भी लोप-सा हो गया। एक और बात थी। यज्ञों में केवल द्विजों को अधिकार था परन्तु बुद्धदेव का यह उपदेश था कि आध्यात्मिक बातों में मनुष्य मात्र को समान रूप से अधिकार है। इससे भी वैदिक कर्म्मकाण्ड के प्रति अश्रद्धा हो गयी। जिस काम का आरम्भ बौद्ध धर्म्म ने किया था उसकी पूर्ति जैन धर्म्म ने की।

मौर्य्य काल के बाद शासन फिर ऐसे लोगों के हाथ में आया जो वैदिक धर्म्म के समर्थक थे परन्तु गंगा के बहाव की दिशा को वह नहीं उलट सके। बौद्ध धर्म्म देश से चला गया परन्तु समाज पर स्थायी और गहरा प्रभाव छोड़ गया। वैदिक यज्ञयागों का लौटा लाना किसी के सामर्थ्य की बात नहीं रह गयी। बुद्ध देव वैदिकों में भी पूजास्पद बन गये और जैनियों के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव भी वन्दनीय मान लिये गये। आध्यात्मिक जीवन का केन्द्र श्रुति-विहित कर्म्म से हट गया।

द्वितीय खण्ड

पौराणिक काल

सातवाँ अध्याय

पुराण

पुराण का नाम आते ही विवाद में पड जाने की आशंका उठ खडी होती है। एक ओर ऐसे लोग हैं जो श्रुतिस्मृतिपुराण की दुहाई देकर यह सूचित करते हैं कि उनकी दृष्टि में पुराण भी धर्म्म के विषय में प्रामाणिक ग्रन्थ हैं, दूसरी ओर वह लोग हैं जिनकी दृष्टि में पुराणों की गणना प्रमाण ग्रन्थों में नहीं की जा सकती। मैं इस शास्त्रार्थ में भाग नहीं लेना चाहता। धर्म्म सम्बन्धी प्रामाणिकता मेरा विषय भी नहीं है।

पुराण प्रमाण ग्रन्थ हो या न हो परन्तु उनके महत्त्व को तो स्वीकार करना ही होगा। ऐसा कहा जाता है कि

> इतिहासपुराणाभ्या, वेदार्थमुपबृंहयेत्।
> बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो, मामयं प्रतरिष्यति॥

'इतिहास पुराण के द्वारा वेदार्थ का उपबृंहण करना चाहिए, व्याख्या करनी चाहिए। जो अल्पश्रुत हैं, जिसने थोडा-सा वेद मात्र पढा है, उससे वेद डरता है कि यह मनुष्य मेरी प्रतारणा करेगा, अपमान करेगा।'

रामायण और महाभारत को इतिहास कहते हैं। पुराणों की संख्या ३६ है, १८ महापुराण, १८ उपपुराण। महापुराणों के नाम इस श्लोक से निकल आते हैं

मद्वयं मद्वयं चैव, ब्रत्रयं वचतुष्टयम्।
अनापल्लिगकूस्कानि, पुराणानीति कथ्यते॥

भद्वय—भागवत और भविष्य
मद्वय—मत्स्य और मार्कण्डेय
ब्रत्रयं—ब्रह्म, ब्रह्माण्ड और ब्रह्मवैवर्त्त
व चतुष्टय—वायु, विष्णु, वामन और वाराह
अ—अग्नि
ना—नारद
पत्—पद्म
लि—लिंग
ग—गरुड़
कू—कूर्म्म
स्क—स्कन्द

भागवत नाम के दो ग्रंथ हैं—श्रीमद्भागवत और देवी भागवत। विद्वानों मे इस बात पर मतभेद है कि इनमें महापुराण कौन है। मैं स्वयं देवीभागवत को महापुराण मानता हूं।

कहीं-कही स्वयं पुराणों ने अपने महत्त्व को बहुत बढा चढाकर बताया है।

पुराणं सर्वशास्त्राणां, प्रथमं ब्रह्मणास्मृतम्।
अनंतरं च वक्त्रेभ्यो, वेदास्तस्य विनिःसृताः॥

'ब्रह्मा ने सब शास्त्रो से पहिले पुराण का स्मरण किया। इसके पीछे उनके मुखो से वेद निकले।

यह निरर्थक अतिशयोक्ति है। वेद को हिन्दुओ के सभी सम्प्रदाय स्वतः-प्रमाण तथा ईश्वरकृत मानते हैं। वेद ईश्वर का निःश्वास कहा जाता है। पुराण भी वेद की महत्ता को स्वीकार करते हैं। ऐसी दशा मे यह कहना कि

पुराण वेद के भी पहिले प्रकट हुए निराधार वाक्य है। परन्तु ऐसे वहुत से स्थल मिलेंगे जहाँ वेद के नाम की शपथ खाते हुए पुराण वेद के प्रति निरादर का भाव दिखलाते हैं।

पुराणा के ऐतिहासिक भागो को, जिनमे सूर्य्य, चन्द्र वंशा के राजाओ के चरित दिये हुए ह, छोड दिया जाय तो उनको वेदो की टीका कह सकते ह। वेद मे वहुत सी बातें सकेत मे या रहस्यमयी भाषा मे कही गयी हैं। उनको अशिक्षित लोगा तक पहुँचाने का प्रयास पुराणो मे किया गया है। वेद की इस प्रतिज्ञा की पूर्ति कि 'इमा वाच कल्याणीमावदानि जनेभ्य' पुराणो ने अपना ध्येय रखा और उनको इसमे सफलता भी मिली। दर्शन, योग और धर्म्म शास्त्र के जटिल तत्वा को पुराणो ने कोने-कोने म फैलाया। वर्णों और आश्रमो के धर्म्म, पुरुषा और स्त्रियो के धर्म्म, राजधर्म, इन सब की जानकारी सरल भाषा मे जनता को करायी गयी। इसके साथ ही ज्योतिष और व्याकरण जैसे विषयो पर भी प्रकाश डाला गया, विकास और सकोच, सृष्टि और प्रलय, हिरण्यगर्भ और विराट्, के स्वरूप का ज्ञान कराया गया।

वेद मे कई विद्याओ का उल्लेख है। उपनिषदो मे भी इनका चर्चा हुआ है। इनम से कइयो का विशदीकरण पुराणो मे किया गया है। परन्तु कुछ बातें तो किसी पुस्तक मे खोलकर नहीं दी जाती, गुरुमुख से ही प्राप्त की जाती हैं। उनके विषय मे तो पुराणो को भी चुप रहना ही पडा है।

वेदो म कई व्यक्तियो के नाम आते हैं पर उनके सम्बन्ध मे कुछ और बातें नहीं मिलती। विश्वामित्र, शुन शेप, पुरूरवा, सुदास कौन थे? पुराणा ने इनकी कथाएँ, इनके जीवन के इतिवृत्त, दिये हैं। ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है कि यह सब कहानियाँ गढी हुई हैं। आर्य्य जाति का सहस्रा वर्षों का इतिहास कहाँ है? किसी पुस्तक मे तो लिखा मिलता नहीं। यदि कुछ विद्वानो की यह बात मान ली जाय कि वेद मे रूढि शब्द हैं ही नहीं और व्यक्तियो के नाम आये ही नहीं ह तब तो और भी अन्धकार छा जाता है। पुस्तक हो या न हो परन्तु निश्चय ही पुरातन इतिहास की अनुश्रुतियाँ रही होगी। विकृत ही सही, परन्तु लोग किसी न किसी रूप मे पुरा काल की बातो को घर के बडे बूढो से

मुँह से सुनते आये होगे। पुराणो ने वही कथाएँ लिपिवद्ध कर दी हैं। इन कथाओं को शुद्ध इतिहास भले ही न कहा जाय परन्तु हमारे सहस्रो वर्षो के इतिहास की थोडी झलक जो कुछ मिलती है वह यहीं मिलती है। वेद मे जो लोग कागज पर खिंची हुई कुछ रेखाएँ है वे पुराणो के पृष्ठो मे जीते जागते मनुष्य वन जाते हैं। उनकी वातों मे अभिरुचि भी वढ जाती हैं। वेद मत्रो के पीछे सहस्रों वर्षो का इतिहास आ खड़ा होता है। ईश्वर की वाणी मुर्दो के लिए नही वरन् जीवित मनुष्यो के लिए मुखरित हो उठती है। इसी को तो वेदार्थ का उपवृंहण कहते हैं।

पुराणो मे कुछ घटनाओ का भी वर्णन है। वंश और वंशानुचरित उनका एक मुख्य अग है। परन्तु उनको सामान्य इतिहास ग्रंथो मे नही गिना जा सकता। उनका अपना विशेष दृष्टिकोण है, उसी से घटना चक्र का निरूपण किया जाता है। आजकल समाजवादी लेखक जव इतिहास लिखने वैठते है तो उनके सामने समाजवाद का वह सिद्धान्त रहता है जिसे ऐतिहासिक अनात्मवाद कहते है। वह घटनाओ को उसी कसौटी पर कसते हैं। उनके लिए सिद्धान्त का सर्वोपरि महत्त्व है, घटना क्रम निदर्शन मात्र हैं। इसी प्रकार पुराणो का भी अपना सिद्धान्त है। उनकी मान्यता है कि विश्व मे धर्म्म और अधर्म्म का निरन्तर सघर्ष होता रहता है। कभी वह सघर्ष देवासुर सग्राम के रूप मे सामने आता है, कभी मनुष्यों मे राष्ट्रो और राज्यो के युद्ध का वाना पहिनकर, कभी व्यक्तियो के जीवन का उथल-पुथल वनकर। अधर्म्म एक वार धर्म्म को दवा लेता है परन्तु अन्त मे विजय धर्म्म की ही होती है। **यतो धर्म्मस्ततो जयः**—पुराणो के लिए इतिहास का, इतिहास के पात्रो का, इतना ही महत्त्व है कि उनके चरित इस सिद्धान्त की पुष्टि करते है। इसीलिए पुराण वहुत व्यौरे मे नही जाते। फिर भी उनमे वहुत ऐतिहासिक सामग्री भरी पड़ी हैं। उनसे इतिहास और भूगोल के अध्ययन मे वहुत सहायता मिलती है।

पुराणो ने समाज का वहुत कल्याण किया है। स्थान-स्थान पर पुराण पाठ होता था और लोगो को अध्यात्म, दर्शन, धर्म्म की शिक्षा मिलती थी, सैकड़ो पीढ़ियो के पूर्वजो की कीर्ति की स्मृति हरी हो जाती थी, सारे देश के साथ भावात्मक एकता की कड़ियाँ फिर से पुष्ट हो जाती थी। हम इसके लिए ऋणी

हैं, कृतज्ञ हैं। परन्तु पुराणो ने बहुत-सा अनर्थ और अहित भी किया है, उसको भी भुलाया नही जा सकता।

पुराणो के कर्त्ता वेद व्यास माने जाते हैं परन्तु उपलब्ध पुस्तको को देखकर ऐसा मानना कठिन हो जाता है कि इन सबका रचयिता एक ही व्यक्ति था। सम्भव है व्यास देव ने अपने शिष्य सूत जी को पुराण विषयक कुछ शिक्षा दी हो। कहा जाता है कि सूत जी पुराणो की कथा नैमिषारण्य मे एकत्रित साधु महात्माओ को सुनाया करते थे। श्रोताओ मे से कुछ लोगो ने स्वतन्त्र पुस्तकें लिखी हो जिनका आधार सूत जी से मिला हो। जो कुछ भी हो, सब पुराणो का रचयिता एक व्यक्ति को मानना सम्भव नही प्रतीत होता। यदि कई पुराण होते तब भी कोई विशेष हानि न होती। एक विषय की कई पुस्तकें होती ही है। यदि उनमे उपासना के लिए पृथक देवो का विशेष चर्चा होता तो भी कोई हानि न होती। यह सनमान्य सिद्धान्त है कम-से-कम 'एक सद विप्रा बहुधा वदन्ति' की घोषणा करने वाला वैदिक धर्म्म तो ऐसा मानना ही है कि—

> रुचीना वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम्।
> नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥ महिम्न स्तोत्र।

जिस प्रकार सीधे टेढे बहने वाली सब नदियाँ समुद्र में पहुँचती हैं उसी प्रकार रुचिभेद स अनक प्रकार से उपासना करनेवाले सब आपको ही पहुँचते हैं।

क्या कहा जाता है उससे बढ़कर महत्त्व इस बात का होता है कि उसे किस प्रकार कहा जाता है। वेदों में पृथक देवताओ का उद्दिष्ट करके मत्र हैं परन्तु पार्थक्य भावना कभी बलवती न हो पायी। पुराणकार ऐसा न कर सके। पृथकता का भाव प्रबल हो गया। यहाँ तक कि विभिन्न देवो के उपासको म लडाइयाँ हो गयी, एक का मन्दिर दूसरे के लिए त्याज्य हो गया। पुराण युग मे एक भी ऐसा ग्रथ नहीं रहा जिसका मानना सब के लिए अनिवार्य्य हो, एक भी ऐसा देव नहीं रहा जिसके सामने सब का सिर झुकता हो। इसका परिणाम उस समय देख पडा जब मुसल्मानो के आक्रमण का सामना करना पडा। एक ओर एक कुरान के झडे के नीचे खडी सेना, दूसरी ओर भीड, जिसम सब का उपास्य अलग, सब का धर्म्म ग्रथ अलग।

आरम्भ मे पुराण ग्रथ किसी ने लिखे हो, परन्तु पीछे से कोई रोकथाम रही ही नहीं। जिसके जी मे जो आया लिख गया। अश्लील कथाओं तक को स्थान मिल गया। उच्चस्थानीय देवो से ऐसे-ऐसे काम कराये गये जिनका नाम लेते हुए सामान्य गृहस्थ भी लज्जित होगा। मैं आगे चलकर इसके कुछ उदाहरण दूंगा। महापुरुषो के जीवन से शिक्षा मिलनी चाहिए परन्तु ऐसे लोगो के जीवन से कोई क्या शिक्षा ग्रहण करे जो स्वार्थसिद्धि के लिए नीच से नीच काम पर उतर आते है ?

मेरी समझ मे पुराणो ने जो सबसे बुरा काम किया वह वेदो को अपदस्थ करना था। वेद का नाम लेते गये पर उसकी जड़ खोदते गये। जैसा कि पहिले दिखलाया जा चुका है, बौद्धकाल के पीछे वैदिक यज्ञयागो का चलन बहुत कम हो गया था। पुराणो ने उसे और कम कर दिया। यह नहीं कहा कि यज्ञादि करना अधर्म्म है। उनका आदेश यह था कि एक तो इन कृत्यो का विधान कलियुग के लिए है ही नही, दूसरे यह अनावश्यक है। उपनिषदों मे भी कहा गया है कि प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा.—यज्ञ का परिणाम अदृढ़ है, उससे मोक्ष नहीं मिलता। पर इसके साथ ही उन्होने यज्ञयाग को चित्तशुद्धि के लिए उपयोगी बतलाया। पुराणो मे उनकी अनुपयोगिता का घोष कर दिया गया। इसके साथ ही वेद के दुर्ग पर इससे भी भयानक आक्रमण किया गया। वैदिक देवो को हँसी और घृणा का पात्र बना दिया गया। कितनो के तो नाम भी भुला दिये गये, प्रायः सब की ही मर्य्यादा मिट्टी मे मिला दी गयी। प्राय. सब छोटे बना दिये गये। यदि अखाड़े मे किसी बडे पहलवान को कुश्ती मे चित कर दिया जाय तो उसके सभी चेलो की स्वतः हार हो जाती है। इसी को प्रधान मल्लनिवर्हण न्याय कहते हैं। इस बात को सामने रखकर देवराज इन्द्र पर प्रहार किये गये। यह समझा गया और समझना ठीक भी था कि यदि उनको गिरा दिया गया तो अन्य देवो का आप ही पतन हो जायगा। वेद मे देवराज किस दृष्टि से देखे जाते थे यह हम देख आये है। देवराज वह अब भी कहे जाते थे पर उनका चरित्र बड़े ही निम्न कोटि का बताया गया—अज्ञानी, कामी, द्रोही, ईर्ष्यालु। दूसरे का उत्कर्ष उनके लिए असह्य है। भोगो मे निरन्तर रत रहते है, किसी को तप और पुण्य करते देख कर जलते रहते है। जब इन्द्र की यह दशा है तो और देवो की क्या गति होगी ? और बातो मे पुराणों मे चाहे मतभेद

हों परन्तु वैदिक देवा, विशेषत इन्द्र, की निंदा करने मे सब एक हैं।

इस सामूहिक अभियान का अभीप्सित फल मिला। देवा पर से श्रद्धा उठ गयी। पुरा काल मे जो बात न हो सकी थी वह कर डाली गयी। किसी समय इन्द्र को न मानने वाले, अनिन्द्र कह जाने वाले, आर्य्यों के देश से ही पृथक् कर दिये गये। इन्द्र की श्रेष्ठता का न मानने वाले के लिए वेदानुयाइया मे कोई स्थान नही था। अब वेद के नाम लेन वाला ने ही इन्द्र की मर्य्यादा को धूलि-धूसरित कर दिया। और परिणाम क्या निकला ? इन्द्र तो अपदस्थ कर दिये गये पर उनकी जगह रिक्त रह गयी, कोई दूसरा उस जगह पर नही बैठाया जा सका। विष्णु या शिव किसी को भी वह एकच्छत्र, असपत्न प्राधान्य न मिल सका। देव परिवार नेतृविहीन हो गया।

यज्ञयाग गये, वैदिक देव गये, फिर वेद किस सहारे टिक सकता था ? वेद का पठन पाठन बहुत कम हो गया, उसके गूढार्थ को समझने का प्रयास व्यर्थ प्रतीत होने लगा। वेद और इन्द्र के व्यक्तित्व ने आर्य्यों को एक सूत्र मे बाँध रखा था। अब वह सूत्र कट गया। अब किसी के लिए विष्णु सवश्रेष्ठ हैं, किसी के लिए शिव, किसी के लिए गणेश, किसी के लिए हनुमान। कोई श्रीमद्भागवत को परम प्रमाण-ग्रथ मानता है, कोई भगवदगीता को, कोई दुर्गासप्तशती को। करोड़ा मनुष्यों के लिए तो तुलसीकृत रामायण ही वेद है।

एक मे बाँधनेवाले तत्त्व के अभाव मे समाज मे धार्मिक अराजकता छा गयी और व्यवस्था की जगह कुव्यवस्था और अव्यवस्था ने ले ली। बहुत से स्थानीय देव-देवी निकल आये जिनकी पूजा सकुचित क्षेत्रा मे होती थी। बाहर कोई नाम भी नहीं जानता था। नये नये व्रत और उत्सव मनाये जाने लगे। जो पुराने और सवमान्य व्रतोत्सव आदि थे उनके मनाने की विधियाँ विभिन्न सम्प्रदाया ने अपनी-अपनी अलग निकाल ली। इस सब का परिणाम यह हुआ कि एकता का बन्धन ढीला होता चला गया।

प्रत्येक बात के लिए पुराणकारा को दोष देना भी उचित न होगा। कमल

का पत्ता जल से निर्लिप्त रह सकता है परन्तु साहित्यकार पर्य्यावरण से प्रभावित हुए बिना बच नही सकता, उस पर देश काल की छाप पडती ही है। जो पुराण गुप्त काल के अभ्युदय के समय लिखे गये उनमें ओज है। परन्तु सारे पुराण एक साथ नही लिखे गये। फिर जो लिखे गये भी उनके कई संस्करण हुए। पीछे के संस्करण कुछ दूसरी ही भाषा बोलते है। गुप्त साम्राज्य का कीर्तिभानु ढल गया था, कई स्वतत्र छोटे राज्य वन चुके थे। एक बार हर्षवर्धन ने देश के गौरव को फिर उठाया पर उनकी मृत्यु के साथ ही उनके साम्राज्य के भी टुकड़े हो गये। दक्षिण भारत का भी कोई प्रदेश देश की इस अधोगति से न बच सका। हर छोटा-बड़ा नरेश महाराजाधिराज था, छोटा से छोटा राज्य देश के बढते विभाजन को दृढ करता जा रहा था। चारो ओर आपसी कलह और ईर्ष्या का बोलबाला था, अपनी गरिमा की धुन सबको थी, भारत की चिन्ता किसी को भी नही थी। आर्य्यत्व का, आर्य्य समाज का, पुराना दुर्ग ध्वस्त हो रहा था। यह परिस्थिति विदेशियो के नाम खुला निमंत्रण पत्र थी। उनको निमित्त मात्र बनना था, देश अपने पतन की सामग्री स्वत. प्रस्तुत कर चुका था।

ऐसी परिस्थिति मे जो पुराण ग्रन्थ लिखे गये या जिनके संस्करण किये गये उनसे क्या आशा की जा सकती थी? वह भी विभाजन और पार्थक्य के प्रवाह मे बह गये। सम्भवत. अपनी शुद्धि के लिए आर्य्य जाति को एक बार दासता, पराभव, आत्मग्लानि की अग्नि मे तपना ही था। इसको कोई रोक नही सकता था। फिर भी पुराणकारो को तो अपने कर्त्तव्य का पालन करना ही चाहिए था। उनको तो इस चतुर्दिक् व्यापी अन्धकार में धर्म्म के आकाशदीप को उठाये रखना था। वही एक बिन्दु था जहाँ सब मिल सकते थे। परन्तु पुराणकारों ने उसके अस्तित्व को न ढूँढा, न पहिचाना। विभिन्न देवो का राग अलापनेवाले पुराण सबको एक सूत्र मे नहीं बाँध सकते थे। यह काम वेद ही कर सकता था। पर वैदिक देवो की प्रतिष्ठा मिट्टी मे मिलाने के बाद उनको, वेदों को, एकता का केन्द्र नही बनाया जा सकता था। पुराणकारो ने यह समझा ही नही कि आर्य्य जनता को बाँधकर रखने का उनका दायित्व है। उनकी धार्म्मिक अराजकता ने गिरते समाज को और नीचे लुढ़का दिया।

आठवाँ अध्याय

देव परिवार मे भारी परिवर्तन

जिस परिस्थिति का थोडा सा उल्लेख छठें अध्याय मे हुआ है, उसमे वैदिक धर्म्म फिर हमारे सामने आया। वह पूर्णतया तो कभी भी लुप्त नही हुआ था, अन्यथा पुन स्थापित होता ही कैसे ? कई शताब्दियो के पीछे वह फिर राजधर्म और लोकधर्म हुआ। उसके प्रतिस्पर्द्धियो मे से बौद्धधर्म तो प्राय देश से ही चला गया। जैन धर्म्म कभी भी उतना व्यापक नही हुआ था, अब और भी पीछे हट गया।

वैदिक धर्म्म अपने पुराने स्थान पर आया तो, पर उसको अपना चोला बदलना पडा, पुराना रूप अब यथावत् नही लौटाया जा सकता था। वेद अब भी स्वत और अन्तिम प्रमाण रहा। जो वेदसम्मत था वह सर्वथा मान्य है, जो वेद विरुद्ध है वह अमान्य है, ऐसी धारणा अब भी थी। प्रत्यक्ष नही तो अप्रत्यक्ष रूप से प्रत्येक उपासना शैली, प्रत्येक सामाजिक रीति तक, वेद का ही समर्थन ढूढती थी। परन्तु जैसा कि मैं पहिले कह चुका हूँ, वेद का पठन पाठन कम हो गया, उसका अर्थ भूल सा गया, वैदिक यज्ञयागो का चलन उठ गया। इसके कई परिणाम हुए। एक तो देव और देवता का भेद तिरोहित-सा हो गया। देवताओ की ओर से ध्यान हट गया क्योकि उनका तो वेद मन्त्रो के साथ मुख्य सम्बन्ध था। अग्नि हुतभुक् और हव्यवाहन थे। उनके द्वारा ही अन्य देवो का आह्वान होता था। उनके ही द्वारा सभी देवताओ के पास हवि पहुँचायी जाती थी। देवताओ मे ऐन्द्री शक्ति सब प्रधान थी, इन्द्र वैदिक देवो मे श्रेष्ठ हैं, उनसे ही देवो की श्रेष्ठता है। अब बदली हुई परिस्थिति मे इन्द्र, वायु, अग्नि, अश्विद्वय, इन सब का स्थान नीचा हो गया। इन्द्र अब भी देवराज

कहलाते थे। परन्तु उनके राज्य की सीमाएँ सिमिट गयी और जैसा कि हम आगे देखेंगे उनके पार्षदों मे से कुछ लोग उनसे भी ऊँचे पद पर हो गये।

एक वात और हुई। यो तो देवता रूप से पराशक्ति पूज्य थी ही और इन्द्राणी आदि देवियो का भी चर्चा वेदो में आता था। परन्तु पृथक् रूप से देवियों को इस काल मे विशेष महत्ता प्राप्त हुई। जितना नीचे देवो को गिराया गया उतना नीचे उनकी शक्तियाँ नही गिरी। भले ही इन्द्रादि के चरित्र दूषित किये गये हो, परन्तु देवियों पर किसी ने अँगुली नही उठायी।

वैदिक कर्म्मकाण्ड के दब जाने का एक परिणाम और हुआ। मनुष्य अपने मस्तिष्क को रिक्त नही रख सकता। देवता नही, यज्ञ नहीं, पर कुछ तो होना ही चाहिए, किसी की किसी प्रकार तो उपासना होनी ही चाहिए। किसी का सहारा तो होना ही चाहिए, नहीं भीतर कुछ सूना-सूना सा लगता था। सामने बौद्धो और जैनो का उदाहरण था। जैनों के चौवीस तीर्थंकर थे, बौद्ध धर्म बुद्ध के अतिरिक्त मन्जुश्री, वज्रपाणि, पद्मयोनि आदि कई बोधिसत्वो की गाथाएँ छोड़ गया था। अपने नूतन संस्करण में वैदिक धर्म्म ने भी इसी पद्धति का अनुगमन किया। उपास्य आगे बढे। वैदिक काल मे उनकी आकृतियाँ अस्पष्ट थी, अब उनमे स्पष्टता आयी। उनके साथ जो सम्बन्ध था उसमें अधिक अपनापन आया, वह मानव जीवन के अधिक निकट आ गये। पहिले आदर की मात्रा अधिक थी, अब आदर के साथ स्नेह भी बढ़ा।

जैसा कि हम तीसरे अध्याय मे सकेत कर चुके है, कुछ देवगण तो देव शरीर से ही मुक्त हो जाते हैं, शेष को पुनः मनुष्य शरीर धारण करना पड़ता हैं। उपनिषद् के शब्दो मे, **क्षीणपुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति**---पुण्यके क्षीण होने पर मर्त्यलोक में प्रवेश करते है। एक देव हटता है, उसका स्थान कोई-न-कोई दूसरा महायोगी लेता ही है। परन्तु पौराणिक काल में इस सैद्धान्तिक तथ्य की भी दुर्गति कर दी गयी। इन्द्रादि का पद तो गिरा ही दिया गया, उनके चरित्रो का भी पतन करा दिया गया। वैदिक देवो का चित्रण लोभी, लम्पट, पदलोलुप रूप मे किया गया। पुराणो को देखने से यही प्रतीत होगा कि साधारण मनुष्य का चरित्र भी देवो के चरित्र से ऊँचा है। यही दिखलाया गया है कि देवगण डरते

रहते हैं कि कहीं कोई दूसरा मनुष्य तप के बल से हमारा पद छीन न ले। इसलिए बराबर अच्छे लोगो का तपोभ्रष्ट करने का प्रयत्न किया करते हैं। वेद मे जो इतने ऊँचे हैं उनको पुराणो मे इतना नीचे गिरा दिया गया है कि वह इस योग्य भी नही रहे कि उनके सामने सिर झुकाया जाय।

जो ऊँचे थे वह नीचे गिराये गये। यज्ञो के साथ, वेदो के साथ, घनिष्ठ सम्बन्ध होने का उनको यह दड मिलना ही था। परन्तु उनका रिक्त स्थान किसी न किसी को तो मिलना ही था। यह स्थान ब्रह्मा, विष्णु और शिव को मिला। इन्द्र देवराज बने रहे परन्तु यह तीनो उनसे बडे मान लिये गये।

इन तीनो देवो का आध्यात्मिक आकाश मे उदय होना हमारे बौद्धिक इतिहास की विचित्र कहानी है। यह स्पष्ट है कि वेद इनके उत्कर्ष का समर्थन नही करते परन्तु ऐसे करोडो व्यक्ति हैं, जिनमे विद्वान् और वेदो के पढने-पढाने वाले भी ह, जो वेदो को भी मानते हैं और त्रिदेव के ऊँचे पद के भी समर्थक हैं। हमारे धर्म्म की यही विशेषता है। कोई पुरानी बात स्पष्टतया कह कर काटी नहीं जाती पर धीरे से नयी बात उसकी जगह ले लेती है। सिद्धान्तत पुरानी बात की पवित्रता और प्रामाणिकता अक्षुण्ण रहती है, व्यवहार मे नयी बात को वह स्थान मिल जाता है। छोटे-मोटे हवन होते ही रहते हैं। उनमे जो व्यक्ति इन्द्र नाम को सर्वोच्च पद देता है वही बिना हिचक के पुराण सुनते समय इन्द्र के लालची और दुराचारी होने की कथा पर भी विश्वास कर लेता है।

प्राचीन काल से ही आर्य्यों मे त्रिदेव का सिद्धान्त माना हुआ था। हम देख आये हैं कि आदि पुरुष परमात्मा ने अपने को अग्नि, वायु, और आदित्य इन तीन रूपो मे अभिव्यक्त किया। तीनो वेद ऋक्, यजु, और साम इन तीन देवो के प्रतीक हैं। इन नामो के पीछे एक गम्भीर विचारधारा थी जो समस्त वेद के सहिताओ, ब्राह्मणो और उपनिषदो मे, अनुस्यूत है। उसी तागे पर सारा वैदिक कर्म्मकाण्ड पिराया हुआ है। यज्ञ गये, कर्म्मकाण्ड गया, वैदिक दर्शन गया, वैदिक देवताओ के नाम गये, वैदिक त्रिदेव परित्यक्त हो गये। परन्तु परम्परा बनी रही, परमात्मा त्रिदेव रूप से व्यक्त होता है, यह स्मृति बनी रही। अग्नि, वायु और आदित्य के सूने सिंहासनो पर ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र आसीन

कर दिये गये। यह नहीं समझना चाहिए कि यह वही तीनों देव हैं, केवल नाम दूसरे हैं; त्रिदेव की नई धारणा वैदिक मान्यता से नितान्त भिन्न है।

अग्नि, वायु और आदित्य मर्त्यलोक, अन्तरिक्ष और द्युलोक में परमात्मा के रूप हैं और इनकी शक्तियाँ पराशक्ति की ही भेद हैं। अपने-अपने क्षेत्र के समस्त जड़-चेतन व्यापार का अधिष्ठातृत्व इनको प्राप्त है। यों कह सकते हैं कि इन तीन स्तरों पर परमात्मा की जो कला प्रकट होती है, परमात्मा की जो अभिव्यक्ति होती है, उनको अग्नि आदि नामों से पुकारते हैं। ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र की वह बात नहीं है। इनके काम बँटे हुए हैं। यों कह सकते हैं कि यदि अकेले मर्त्यलोक को ही लें तो वैदिक विचारधारा के अनुसार जो काम अकेले अग्नि और आग्नेयी शक्ति के द्वारा सम्पन्न होता था उसको अब ब्रह्मा और ब्राह्मी शक्ति, विष्णु और वैष्णवी शक्ति तथा रुद्र और रौद्री शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। यही बात अन्तरिक्ष और द्युलोक के लिए भी है। यह ठीक है कि विष्णु की गणना आदित्यों में होती है और अग्नि तथा रुद्र का तादात्म्य माना जाता है, परन्तु त्रिदेव की दोनों कल्पनाओं में बहुत भेद है।

त्रिदेव की उत्पत्ति का रोचक वर्णन कुछ पुराण ग्रन्थों में मिलता है :

सर्वस्याद्या महालक्ष्मीस्त्रिगुणा परमेश्वरी
लक्ष्यालक्ष्यस्वरूपा सा व्याप्य कृत्स्नं व्यवस्थिता॥

शून्यं तदखिलं स्वेन पूरयामास तेजसा।
बभार परमं रूपं तमसा केवलेन हि॥

. . .महालक्ष्मी : स्वरूपमपरं।
सत्त्वाख्येनाति शुद्धेन गुणेनेन्दुप्रभं दधौ॥

अथोवाच महालक्ष्मीर्महाकालीं सरस्वतीम्।
युवां जनयतां देव्यौ मिथुने स्वानुरूपतः॥

इत्युक्त्वा ते महालक्ष्मी ससर्ज मिथुन स्वयम ।
हिरण्यगर्भौ रुचिरो स्त्रीपुसौ कमलासनो ॥

महाकाली भारती च मिथुने सृजत सह ।

एव युवतय सदय पुरुषत्व प्रपेदिरे ।

ब्रह्मणे प्रददौ पत्नीं महालक्ष्मी (नृप) त्रयीम ।
रुद्राय गौरीं प्रददौ वासुदेवाय च श्रियम् ॥

स्वरया सह सभूय विरिञ्चोऽण्डमजीजनत ।

पुपोष पालयामास तल्लक्ष्म्या सह केशव ।
स जहार जगत्सर्व सह गौर्या महेश्वर ॥

'जगत् के आरम्भ मे केवल त्रिगुणात्मिका परमेश्वरी महालक्ष्मी थी। वह लक्ष्या-लक्ष्य स्वरूपा है, सब मे व्याप्त होकर स्थित थी। अपने तेज से उन्होने समस्त शून्य को परिपूरित कर रखा था। उन्होने अपना केवल तमोगुणात्मक दूसरा परम रूप धारण किया। इस शरीर के नाम हैं महामाया, महाकाली, महामारी, कालरात्रि आदि। फिर महालक्ष्मी ने शुद्ध सत्त्वगुणात्मक दूसरा शरीर धारण किया। इस विग्रह के नाम हैं महाविद्या, महावाणी, भारती, वाक, सरस्वती, वेदगर्भा आदि। तब महालक्ष्मी ने दोना देवियो से कहा कि अपने शरीर से अपने-अपने अनुरूप एक एक मिथुन (जोडा) उत्पन्न कीजिए। यह कहकर उन्होने अपने शरीर से स्त्री-पुरुष के एक जोडे को जन्म दिया। पुरुष के नाम ब्रह्मा, विधि, विरिञ्च हैं और स्त्री के नाम श्री, पद्मा, कमला और लक्ष्मी। महाकाली ने भी मिथुन उत्पन्न किया। उसमे पुरुष के नाम नीलकण्ठ, चन्द्रशेखर, रुद्र, शकर, स्थाणु आदि हैं और स्त्री के त्रयी, विद्या, स्वरा, अक्षरा, आदि हैं। इसी प्रकार महासरस्वती ने भी मिथुन की सृष्टि की। उसमे पुरुष के नाम विष्णु, हृषीकेश, वासुदेव, जनार्दन आदि हैं और स्त्री के उमा, गौरी, सती, चण्डी आदि। इस प्रकार तीनो युवतियाँ तत्काल पुरुषत्व

को प्राप्त हुई। महालक्ष्मी ने ब्रह्मा को त्रयी, रुद्र को गौरी और वासुदेव को श्री पत्नी रूप में दिया। स्वरा के साथ मिलकर, ब्रह्मा ने ब्रह्माण्ड की रचना की, लक्ष्मी के साथ मिलकर केशव ने उसका पालन-पोषण किया और गौरी के साथ मिलकर रुद्र ने संहार किया।'

ऐसा कहा गया है कि इस रहस्य को सब लोग नहीं समझ सकते।

चक्षुष्मन्तो नु पश्यन्ति, नेतरेऽतद्विदो जनाः

'जो आँख वाले हैं वही इसे देख सकते हैं, दूसरे अज्ञानी लोग नहीं। स्पष्ट ही आँखवालो से तात्पर्य्य योगियो से है।'

लोक मे एतद्विषयक जो प्रचलित कथा है वह तो इस प्रकार है कि नारायण की नाभि से कमल निकला। उस कमल के दलो पर ब्रह्मा आविर्भूत हुए। कालान्तर मे उनके मस्तिष्क का भेदन कर के रुद्र प्रकट हुए। इनकी शक्तियो के प्रादुर्भाव का पृथक् वर्णन नही मिलता। ऐसा मानना चाहिए कि तत्तत् देव के साथ ही उसकी शक्ति या पत्नी भी प्रकट हुई।

प्रजापति, हिरण्यगर्भ और विश्वकर्मा नाम से ब्रह्मा वैदिक काल में भी धाता, विधाता, जगत् के कर्ता माने जाते थे। वही ब्रह्मणस्पति, बृहस्पति, वाक्पति, वेद के स्वामी, वेद के भंडार, वेद के आदि प्रवर्त्तक थे। उनको ऊँचा स्थान मिलना स्वाभाविक था। यज्ञ याग हों या न हों, जगत् तो था ही। प्रलय के बाद नये जगत् का निर्माण तो हुआ ही था और आगे भी होगा ही, नये जगत् के बनने पर पुराना, सनातन, वैदिक ज्ञान मनुष्यों तक पहुँचाना ही होगा। पुराणों में लिखा है कि इस कल्प के वशिष्ठ तप कर रहे हैं और अगले कल्प मे ब्रह्मा होगे। ब्रह्मा त्रिदेव मे तो हैं परन्तु उनकी पूजा बहुत कम होती है। उनके नाम के साथ बस एक पुष्कर तीर्थ सम्बद्ध है। सम्भवतः लोक बुद्धि में यह बात आयी होगी कि जगत् के भावी स्वरूप की रूपरेखा का साक्षात् करने और भावी विश्व के परिचालन के लिए ऋत् और सत्य को जन्म देने के बाद ब्रह्मा का कोई काम नही रह गया। जगत् नियमों के और जीवो के कर्म्मों के अनुसार

आप ही विकसित होता जायगा और समय आने पर फिर सकुचित होता जायगा। इसलिए बीच मे ब्रह्मा जी को कष्ट देने की आवश्यकता नही है।

जब विश्व बन ही गया तो उसकी देखभाल भी होनी चाहिए, उसको रक्षा भी होनी चाहिए। ऋत् और सत्य के नियम अटल हैं, कम्म की रेख अमिट है, पर बीच-बीच मे ऐसे प्राणी आते हैं जो अपने बल के मद मे सनातन नियमो को भी छेडते हैं। इस प्रकार बिगाडे हुए सन्तुलन को फिर से स्थापित करना ही होगा। यह काम विष्णु का है। उनको यह काम सौंपा जाना वैदिक परम्परा के अनुसार था। उनको वेद मे कई जगह 'गोपा' (रक्षक) कहा गया है। इस बात की ओर भी सकेत है कि वह धर्म्मों को सँभालते हैं, धारण करते हैं। विष्णु की प्रशसा इन शब्दो मे करके दिखलाया गया है कि वह तत्वत हिरण्यगर्भ ब्रह्मा से अभिन्न हैं। जो प्रजापति, प्रजा का जनक है, वही प्रजा का पालक भी है

> विष्णोर्नुक वीर्य्याणि प्रवोचय पार्थिवानि विममे रजांसि।
> यो अस्कभायदुत्तर सधस्थ विचक्रमाणस्त्रेधोरुगाय ॥
> ।१, १५४, १।

'मैं विष्णु के वीर्य (पराक्रम) का वर्णन करता हूँ। यह विष्णु वह हैं जिन्हाने पार्थिव लोको की रचना की, जिन्हाने ऊपर के धाम, अतरिक्ष और द्युलोक, को बनाया, जिन्होने तीव्रगति से इन लोका मे चक्रमण किया।'

> विष्णुर्गोपा परम पाति धाम।
> प्रिया धामान्यमृता दधान ॥ ३, ५५, १० ॥

'रक्षक विष्णु परम धाम को जाते थे। अमृत रूपी प्रिय धामो को धारण करते हैं।' धाम शब्द का अर्थ है ज्योतिर्मय लोक। नीचे लिखा मत्र पहिले भी उद्धृत हो चुका है

> त्रीणि पदा विचक्रमे, विष्णुर्गोपा अदाभ्य
> अतो धर्म्माणि धारयन्।

'अजेय रक्षक विष्णु तीन पाँव चले, इस प्रकार धर्म्मों को धारण करते हुए।' विष्णु वह है जो व्याप्नोति—व्यापक है। विष्णु वह सत्व है, वह व्यक्ति विशेष है, जो तीन पद चलते हैं, जो तीन लोकों में सर्वत्र व्याप्त है। यह तीन लोक, नये शब्दो में भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, पुराने शब्दों में पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक है। गतिसूचक 'चलना' शब्द इस बात की ओर संकेत करता है कि वह निरन्तर सतर्क है, उनकी दृष्टि बराबर सब जगह पड़ती रहती है। वह चलकर धर्म्मों को धारण करते हैं। यह वह धर्म्म है, वह नियम है, जो जगत् की उत्पत्ति के समय प्रकट हुए थे। जब हिरण्यगर्भ ने भावी जगत् का विचार के रूप में साक्षात्कार किया, जब उसकी रूपरेखा सामने आयी, तो वेद के शब्दो में उन्होंने तप किया। तस्य ज्ञानमयं तपः—उनका तप ज्ञानमय है। उस तप से पहिले ऋत और सत्य उत्पन्न हुए। 'ऋतञ्च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत' उद्दीप्त तप से ऋत और सत्य का जन्म हुआ। जिन नियमों के अनुसार भौतिक जगत् में कार्य्य कारण की शृंखला चलती है उन्हें ऋत और जिनके अनुसार कर्म्म की पुण्यपापात्मक शृंखला चलती रहती है उनको सत्य कहते हैं। इन नियमों के लिए कहा है:

तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन्। १०, ९०, १६।

वह प्रथम धर्म्म थे। उन्हीं का धारण, संरक्षण, विष्णु करते हैं। इसीलिए उन्हें गोपा कहा है। उनकी गति अप्रतिहत है, उनके काम में बाधा नहीं पड़ती, इसलिए अजेय कहा है। इस मंत्र से पौराणिक विष्णु का एक प्रकार से चित्र खिंच जाता है।

वेद मे विष्णु और इन्द्र का बहुत साथ है। उनको **इन्द्रस्य युज्यः सखा** कहा है। यह इन्द्र के मित्र हैं और सदैव इन्द्र की इच्छा के अनुसार काम करते हैं। उनमे कोई बड़ा-छोटा नहीं है—**'उभाजिग्ययुर्नपराजयेथे।'** न **'परा जिग्ये कतरश्चनैनोः।'** ६, ६९, ८, इन दोनों मे कोई दूसरे को जीतता नहीं। इन्द्रसखा होने के साथ साथ विष्णु इन्द्र। वरज, इन्द्र के पीछे जन्म लेने वाले, भी हैं। इन्द्र अग्रज है, विष्णु अवरज। इन्द्र बडे भाई हैं, विष्णु छोटे भाई। इनकी एक और उपाधि भी है, उपेन्द्र, उप इन्द्र। यह एक प्रकार के गौण इन्द्र हैं जो इन्द्र की जगह

काम कर सकते हैं। इससे यह प्रत्यक्ष है कि विष्णु का स्थान बहुत ऊँचा था, वह इन्द्र से नीचे तो थे परन्तु बहुत नीचे भी नहीं थे। इसलिए जब इन्द्र को पदच्युत किया गया तो पुराणों को उनकी जगह विष्णु का ला बैठाने में विशेष कठिनाई नहीं हुई। भूमिका पहिले से तैयार थी।

वेद के बहुत से मन्त्रों में विष्णु का चर्चा दूसरे देवों के साथ आया है।

इन्द्रा विष्णू पिबत मध्वो अस्य सोमस्य। ६, ६९, ७।

'इन्द्र और विष्णु इस मदकर सोम को पियें।' उसी मन्त्र में यह प्रार्थना भी की गयी है

उपब्रह्माणि शृणुत हवं मे

'दोनों देव, मेरे आह्वान को और मेरे कहे मन्त्रों को सुनें।'

पौराणिक काल में ऐसे वाक्य भला कहीं सुने जा सकते थे? या तो किसी देव देवों को सिर पर उठा लिया जाता था या उसको धूलि में मिला दिया जाता था। विष्णु के उपासकों के लिए यह असह्य था कि उनके साथ किसी और का नाम लिया जाय।

विष्णु का नाम नारायण भी है। आपो नारा-अप शब्द का एक नाम नार भी है। नार में जिसका निवास है वह नारायण है। अप साधारण जल का नाम नहीं है। प्रलय के पश्चात् और नये जगत् के विकास के पहिले जगत् के निर्माण की सामग्री एकरस अविभक्त रूप में रहती है। उस अवस्था का नाम आप है, उस दशा में अकेला ईश्वर निष्क्रिय रूप से रहता है। उसी अवस्था में उस नारायण कहते हैं। उस अवस्था को कहीं-कहीं पुराणों में यों चित्रित किया जाता है कि चारों ओर जल है। बीच में एक वट वृक्ष है। उसपर एक बालक अपने पाँव के अँगूठे का मुँह में लिए सो रहा है। इस संसार को वटवृक्ष से बहुधा उपमा दी जाती है। जिस प्रकार छोटे से बीज से वट का पेड़ निकलता है

और फिर उसका विस्तार हो जाता है उसी प्रकार संसार फैलता है। अपने में सब कुछ समेट कर निष्क्रिय रूप से अकेले आत्माराम होने को अँगूठे को मुँह मे डालकर सोना दिखलाया गया है। चारों ओर का जल ही आपः है।

विष्णु को लक्ष्मीपति कहते हैं, उनकी पत्नी का नाम लक्ष्मी है। ऋग्वेद के परिशिष्ट स्वरूप खिल सूक्तों में लक्ष्मी सूक्त आता है। उसमे लक्ष्मी का माहात्म्य दिया है। उसके कई पाठ मिलते हैं। उनमे किसी-किसी मे लक्ष्मी को हरिवल्लभा और विष्णुपत्नी कहा है।

जगत् का एक दिन विनाश भी होता है। संकोच हो कर वह अपने मूल में, परमात्मा में, विलीन हो जाता है। उस समय त्रिमूर्ति के तीसरे देव, रुद्र, की आवश्यकता पड़ती है। जिस परमात्मा ने ब्रह्मा के रूप में उसे जन्म दिया था और विष्णु रूप से पाला था वही रुद्र रूप से संसार का संहार करता है। रुद्र का संहारक रूप वेदसम्मत है ही, यजुर्वेद के रुद्राध्याय के १५वें और १६वें मंत्र मे **'मा नो महान्तमुत मा नोऽर्भकमा न उक्षन्त'** इत्यादि शब्दों मे जो प्रार्थना की गयी है वह रुद्र के स्वरूप का परिचय देती है: हमारे बड़ो और छोटो, पिता-माता और बच्चो तथा पशुओ को, मत मारो, हमारी आयु पर क्रोध मत करो।' उनसे बार बार कहा जाता है कि अपने बाणों को **"पराचीना मुखावर्तय"**—उनका मुँह हमारी ओर से फेर दीजिए।

ऋग्वेद मे भी रुद्र का यही रूप है:

मा नो वधी रुद्र मा परा दा मा ते भूम प्रसितौ हीळितस्य।
आ नो भज बर्हिषि जीव शंसे यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः।

।७, ४६, ४।

'हे रुद्र, तुम हमारा वध मत करो, हमारा त्याग भी मत करो, हम पर क्रोध करके अपने बन्धन मे मत डालो, लोगों द्वारा प्रशस्त यज्ञ के भागी हम को बनाओ, आप लोग सदा हमारा कल्याण करो।' रुद्र ग्यारह हैं, इसलिए बहुवचन का प्रयोग किया गया है।

रुद्रो के सम्बन्ध मे कहा गया है

युवानो रुद्रा अजरा अभोग्घनो ववक्षुरध्रिगाव पर्वता इव ।
दृळ्हातिद्विश्वा भुवनानि प्रच्यावयन्ति दिव्यानिमज्मना ॥
। १, ६४, ३ ।

'युवा, अजर, देवो को हवि न देने वाला का हनन करने वाले, अप्रतिहत-गति, पर्वतो के समान दृढ रुद्रगण स्तुति करने वालो के हित की इच्छा करते हैं। वह अपने बल से समस्त पार्थिव और दैवी भुवनो को हिला डालते हैं।'

रुद्र का रूप इस मत्र से भी अभिलक्षित होता है

इमा रुद्राय स्थिरधन्वने गिर क्षिप्रेषवे देवाय स्वधाव्ने ।
अषाळ्हाय सहमानाय वेधसे तिग्मायुधाय भरता शृणोतु न ॥
। ७, ४६, १ ।

'हे श्रोतागण उन रुद्र देव की स्तुति करो जो दृढ धनुषधारी, वेगवान तीर-वाले, अन्न देने वाले, किसी से भी अभिभूत न होने वाले, विधाता और तीक्ष्णायुधो से युक्त हैं। वह रुद्र हमारी स्तुति सुनें।'

विश्व का जन्म हुआ तो संहार भी होगा ही। ऐसी दशा मे होना यह चाहिए था कि जिस प्रकार ब्रह्मा की विशेष रूप से पूजा नहीं होती वैसे ही रुद्र की भी न होती। प्रलय को टाला नही जा सकता, फिर रुद्र की उपासना क्यों की जाय? जब तक जगत् है तब तक रक्षा का काम तो विष्णु सभाल ही लेंगे। यह एक रहस्य है जिसकी गहराई इस बात को देखकर और भी बढ जाती है कि रुद्र का जहाँ भयकर रूप है वहाँ सौम्य रूप भी है। वेद मे ही उनको शम्भु, शकर और शिव कहा है। इन सब का अर्थ है कल्याणमूर्ति, कल्याणकारी। एक मत्र कहता है कि

या ते रुद्र शिवातनूरघोरा तयानस्तन्वा शन्तमया भिचाकशीहि

'हे रुद्र, तुम्हारा जो अघोर, शिव, परमकल्याणकारी शरीर है उससे मुझको देखो।'

यह विचित्र बात है। जो उग्रकर्म्मा है, घोर है, रुलाने[1] वाला है, उसका अघोर और कल्याणकारी रूप कैसा? कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने इस पहेली का अनूठा हल निकाला है। वह कहते है कि जो क्रूरकर्म्मी होता है, उससे डरकर उसके आगे चाटुकारिता करना मनुष्य की सहज दुर्बलता है। उद्दंड राजा को लोग धर्म्मावतार कह कर सम्बोधित करते है। इसी प्रकार रुद्र को प्रसन्न रखने के लिए उनको मगलकारी कहा गया है।

मोहेञ्जोदड़ो मे ऐसी मूर्तियाँ मिली हैं जो शंकर से मिलती है। इससे अनुमान होता है कि वहाँ शकर या उनसे मिलते-जुलते किसी देव की पूजा होती थी। कुछ विद्वानो का मत है कि आर्य्यों ने रुद्र की पूजा सुमेरियन लोगों या किन्ही अन्य अनार्य्यों से सीखी। आर्य्यों के देव सब सौम्य होते हैं, रुद्र का स्वभाव उग्र, अनार्य्य है। काल पाकर किसी प्रकार रुद्र और शिव मिलकर एक कर दिये गये होगे। यह सब केवल अटकल है, जिसके लिए कोई आधार नही है। वैदिक दर्शन पर गम्भीरता से विचार न करने से ही ऐसे अटकल लगाने पड़े हैं।

बात यह नही है। इस रहस्य को समझने के लिए जगत् के विकास और संकोच को समझना होगा। जो लोग इन शब्दों को सृष्टि और विनाश के समानार्थक समझते हैं, वह भूल करते हैं। सृष्टि कहते हैं 'कुछ नही' से 'कुछ' के बनने को और विनाश कहते है 'कुछ नहीं' हो जाने को। भारतीय दृष्टि मे दोनो बातें नही होती। गीता के शब्दो में:

नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः।

'न असत् का भाव (होना) होता है, न सत् का अभाव (न होना) होता

---

१. रुद्र की यह व्युत्पत्ति मानी जाती है : रोदयति (रुलाता है)–रुद्र.

होता है। परन्तु जिस व्यक्ति के संसार का विनाश होता है, वस्तुतः उसकी अविद्या का विनाश होता है। उसके लिए रुद्र शिव हैं। अतः उनसे इस आशा को लेकर प्रार्थना की जाती है कि वह संसाररूपी बन्धन से छुटकारा दिला देंगे। ऐसा माना जाता है कि अपनी पुरी में शंकर सबको मोक्ष देते हैं। उनकी पुरी का नाम काशी या वाराणसी है। योग के ग्रन्थों में बताया गया है कि वाराणसी भ्रूमध्य के उस स्थान को कहते हैं जहाँ पर इड़ा और पिंगला नाम की दोनों नाड़ियाँ मिलती हैं। वहाँ तक कोई योगी ही पहुँच सकता है। जो वहाँ तक पहुँचेगा वह स्वतः मुक्त होगा। इसीलिए उसको काशी, प्रकाशमयी भी कहते हैं। यहाँ आत्मज्ञान का प्रकाश अविद्या के अन्धकार को दूर कर देता है।

ऐसी अवस्था में स्वभावतः रुद्र का महत्व विष्णु के समान ही माना गया, परन्तु दोनों की उपासनाओं में प्रत्यक्ष अन्तर है। भर्तृहरि का यह श्लोक इस भेद को स्पष्ट कर देता है :

एका कान्ता सुन्दरी वा दरी वा,
एको वासः पत्तने वा वने वा, ।
एकं मित्रं भूपतिर्वा यतिर्वा,
एको देवः केशवो वा शिवो वा ॥

इसका सारांश यह है कि जो लोग संसारी वैभव—इस लोक या परलोक में अभ्युदय—चाहते हैं उनको नगर में रहना चाहिए, सुन्दर स्त्री की कामना करनी चाहिए, श्रीमानों का साथ करना चाहिए और विष्णु की उपासना करनी चाहिए और जो लोग निःश्रेयस, मोक्ष के खोजी हैं, उनको एकान्त सेवन करना चाहिए, साधुओं का संग करना चाहिए और शिव की उपासना करनी चाहिए।

यह बात आज भी प्रत्यक्ष देखी जा सकती है। विष्णु मन्दिरों में जो राजसी ठाट बाट होता है, भोग पूजा की जो व्यवस्था होती है, उसका प्रायः शैव मठ-मन्दिरों में अभाव होता है। देश के सम्पन्न मन्दिर तिरुपति, श्रीनाथ द्वारा, जगन्नाथपुरी, पद्मनाभ सभी वैष्णव उपासना केन्द्र हैं।

वदिक देवों की पूजा हटा कर शैव और वैष्णव उपासना शैलियों को समाज मे जगह पाने मे समय लगा। पुराणों मे इस बात की कुछ झलक तो मिलती है परन्तु विकृत रूप मे और सैकडो वर्षों की घटनाओ को कुछ घडियों के भीतर बांध दिया गया है। फिर भी कुछ न कुछ संकेत मिलता है। गोवर्धनधारण की कथा प्रसिद्ध है। प्रतिवर्ष व्रज मे वर्षा के लिए यज्ञ होता था, इन्द्र की पूजा होती थी। श्रीकृष्ण ने रोक दिया। इसका कोई कारण नही बताया गया है। इन्द्र ने क्रोध करके घोर वृष्टि की, कृष्ण ने गोवर्द्धन पहाड को उठाकर व्रज को बचा लिया। इन्द्र हार गये। उन्होने कृष्ण की स्तुति की और लज्जित होकर, स्वर्ग चले गये। इसी प्रकार शिव पुराण मे लिखा है कि ऋषि लोग तपोमग्न थे। इसी बीच मे शिव नगे होकर उनकी पत्नियो के सामने आये। ऋषि लोगों ने लौटने पर अपनी स्त्रियो को लिंग पूजा करते देखा। बहुत रुष्ट हुए, पर उनकी एक न चली। यह पूजा प्रचलित हो गयी। भृगु की कथा है कि उन्होने विष्णु की छाती पर लात मारी जिसका चिह्न आजतक बना हुआ है, पर अन्त मे उन्हें विष्णु की महत्ता स्वीकार करनी पडी। इस प्रकार की कथाएँ यह दिखलाती हैं कि नयी उपासनाओं का विरोध किया गया। ऋषि लोग, जिनके प्रतीक प्राचीन पुरोहित वश के नेता भृगु थे, इनका स्वीकार नही कर रहे थे पर उनका बस नही चला। यह भी अनुमान होता है कि नयी उपासना शैलियाँ पहिले समाज के कम शिक्षित वर्गों से चली, विद्वानो ने उनका विरोध किया। लिंग पूजा को पहिले स्त्रियो ने अपनाया। कृष्ण की पूजा अशिक्षित गोप गोपियो से आरम्भ हुई। ब्रह्मा की पूजा का कोई विरोध नही हुआ क्योंकि उसने किसी वैदिक उपासना पद्धति को हटाकर उसकी जगह लेने का प्रयत्न नही किया।

वैदिक देवो का पीछे हटाकर विष्णु और शिव को आगे लाना पौराणिक काल की मुख्य देन है।

यह मैं पहिले भी लिख चुका हूँ कि पुराणों के साथ भले ही व्यास का नाम खींचा जाय परन्तु उनका अन्तःसाक्ष्य कहता है कि उनका रचयिता कोई एक व्यक्ति नही था।

कई पुराणकार बडे ही नासमझ थे। अपनी धुन मे उनको यह भी ध्यान नही रहा कि और चाहे जो कुछ किया जाय

पर वेद की निन्दा तो नही ही करनी चाहिये। वेद ही वह मञ्च है जहाँ शैव, वैष्णव आदि सभी सम्प्रदायो के अनुयायी मिलते है। वेद ही सब को मिलाता है। यदि वेद पर से आस्था हट गयी तो सब बिखर जायँगे। जिसने गोवर्धन धारण की कथा लिखी, उसको वेद की निन्दा कराने से क्या लाभ हुआ? यदि वैदिक यज्ञ का परित्याग हो गया तो उसकी जगह क्या लेगा? सब लोग तो कृष्णोपासक नही हैं, न होगे। ऐसा कहा जाता है, स्वय पुराणो मे भी यही लिखा है कि बहुत तपस्या के बाद इन्द्र पद मिलता है। परन्तु कहानियों को गढते समय वह इस बात को भूल गये। बार बार यह दिखलाया गया है कि किसी को आध्यात्मिक उत्कर्ष के पथ पर चलते देखकर इन्द्र घबरा उठते है कि कही यह मेरा पद न छीन ले। उसको तपोभ्रष्ट करने का प्रयास करते है। ऐसी बात अवैदिक भी नही कहते। बौद्धो के अनुसार बुद्धदेव को तपोभ्रष्ट करने का प्रयत्न मार ने किया पर अपने को वैदिक कहते हुए पुराणकार यह नीच काम इन्द्र से कराते हैं। इतने दिनो तक तप करके भी इन्द्र पदलोलुप बने रहे। वह इतना न समझ सके कि कौन किस लिए तप करता है।

गोवर्द्धन धारण की कथा लीजिए। इन्द्रोपासना की वैदिक पद्धति के लोप कराने से कृष्ण को क्या मिला? बौद्धावतार की बात होती तो यह भी कहते कि वह वेदो की जान बूझकर निंदा करा रहे थे। परन्तु कृष्ण का तो यह उद्देश्य नही था। स्वयं उन्होने गीता मे कहा है:

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं तेकार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म्म कर्तुमिहार्हसि।

'इसलिए कार्य्य अकार्य्य की व्यवस्था मे तुम्हारे लिए शास्त्र प्रमाण है। शास्त्र के विधान को जानकर तुमको कर्म्म करना चाहिए।'

शास्त्रों मे तो सब से बड़ा प्रामाण्य वेद का है। वेद के विधान को छुड़ाकर उन्होने क्या वदतोव्याघात, स्वयं अपना खण्डन, नही किया। सब लोग कृष्णपूजक तो हुए नही, यह बात भी वह जानते रहे होगे। कहा जाता है **कृष्णस्तु भगवान् स्वयं**—कृष्ण पूर्ण कलावतार भगवान् थे। फिर इन्द्र उनसे लड़ने क्यो गये? और,

देवो के साथ मिलकर इन्द्र ने भी विष्णु से प्रार्थना की थी कि आप भूभार उतारने के लिए पृथिवी पर अवतरित होइये। इसलिए इन्द्र को तो ज्ञात ही था कि कृष्ण कौन हैं। फिर उनसे लडन की मूर्खता उन्होने क्या की ? व्यर्थ जान-बूझ कर अपना अपमान उन्होने क्यो कराया ? जिसन इस भद्दी कथा को लिखा उसने न तो इन्द्र की मर्य्यादा का ध्यान रखा, न कृष्ण की प्रतिष्ठा की रक्षा की। हाँ, वेद पर कुठाराघात करने मे निश्चय ही उसको कुछ सफलता मिली।

किसी कवि ने कहा है—**विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपात शतमुख**—जो विवेकभ्रष्ट होता है वह बडे वेग से गिरता है। इन्द्रादि के चरित्र को कलकित करने वाला को इसकी लत सी पड गयी। उन्होने अपने उपास्यो को भी नही छोडा। उनसे ऐसे ऐसे निंद्य कर्म कराये जिनको कोई साधारण गृहस्थ सोच भी नही सकता। शिव पुराण की उस कथा का उल्लेख हो चुका है जिसके अनुसार शिव ऋषि पत्नियो के सामने नगे घूम रहे थे। तुलसी उपाख्यान इससे भी भ्रष्ट है। जालन्धर नाम का एक असुर था। वह बहुत ही धर्मात्मा था और उसकी पत्नी वृन्दा बडी ही साध्वी स्त्री थी। देवगण उससे बराबर हार जाते थे क्योकि उसको यह वरदान था कि जब तक उसकी पत्नी का पातिव्रत अक्षत रहेगा तब तक वह अजेय रहेगा। वह एक बार लडाई पर गया हुआ था। विष्णु उसका वेष धर कर उसके घर आये और उन्होने वृन्दा का पातिव्रत नष्ट किया। जालन्धर मारा गया, देवो की विजय हुई। विष्णु को यह दड मिला कि वह शालग्राम शिला के रूप मे पत्थर हो गये और पुरस्कार यह मिला कि तुलसी के रूप मे वृन्दा उनकी चिरसगिनी बन गयी। तुलसी की पत्ती चढाये बिना विष्णु की तृप्ति नही होती। किसी स्त्री के सतीत्व को नष्ट करना, चाहे वह शत्रु की ही पत्नी क्यो न हो, कितना नीच काम है, यह बात पुराणकार की समझ मे न आयी। उसने विष्णु से यह काम करा डाला। उसके सामने बस एक काम था। असुरो को हराना, साधन चाहे जो और जैसा हो।

इस कहानी का रचयिता एक और महत्त्वपूर्ण बात भूल गया। आर्य्य आदर्श यह है कि साध्वी स्त्री जन्मजन्मान्तर मे अपने पति को नही छोडती। वृन्दा सती थी, उसको जालन्धर पर निष्ठा थी, उसने विष्णु की पत्नी बनना कैसे स्वीकार

कर लिया? इस कथा ने तुलसी को उमा, लोपामुद्रा, अरुन्धती, सावित्री, जैसी सती स्त्रियो के समाज मे बैठने योग्य न रखा।

वैदिक यज्ञो का चलन जाता रहा था और लोग देवताओ को भूल गये थे, परन्तु पराशक्ति को नही भूल सके। उसकी सर्वात्मकता और सर्वव्यापकता की अव भी वैसी ही धाक-बैठी हुई थी। परन्तु उस समय की प्रथा के अनुसार पराशक्ति के कलेवर मे भी कुछ परिवर्तन किये गये। ब्राह्मी, वैष्णवी और रौद्री देवताएँ महासरस्वती, महालक्ष्मी और महाकाली नाम की महाविद्या वन गईं। यह ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र के माध्यम से काम करती हैं और इन देवो की शक्ति या पत्नियाँ मानी जाती है। इसी प्रकार अन्य देवो को भी पत्नियाँ मिली हैं। वहुवचनान्त शची शब्द वेदो मे कई जगह इन्द्र के तेज के लिए प्रयुक्त हुआ है : पुराणो मे शची इन्द्र की पत्नी का नाम है। एक वात स्वीकार करनी होगी : देवी के चरित्र पर लांछन लगाने का साहस किसी पुराणकार ने नही किया। पुराणो मे देवी के कुछ नाम तो वेदोक्त है परन्तु अधिकतर ऐसे हैं जो पौराणिक कथाओ मे पहिली वार देखने को मिलते है। दुर्गा, महिषमर्दिनी, चंडी, चामुण्डा, कालिका, शाकम्भरी, विन्ध्यवासिनी, वाराही, कौमारी आदि सव नये नाम हैं। तारा, वगलामुखी, छिन्नमस्ता, त्रिपुरसुन्दरी जैसे नामो ने तो तंत्रो के द्वार से प्रवेश पाया है।

सिद्धान्तदृष्ट्या यह भले ही मान लिया जाता हो कि देवगण एक दूसरे से और परमात्मा से अभिन्न है, परन्तु पुराणो मे यह वात दवी सी रहती है। जहाँ विष्णु के नाम गिनाये जाते है उनमे शिव के नामो का भी सन्निवेश कर दिया जाता है। इसी प्रकार शिव के नामो मे विष्णु के नाम भी परिगणित होते है। यह भी स्थान स्थान पर कहा गया है कि त्रिदेव मे कोई वडा छोटा नही है, सव एक ही परमात्मा की विभूतियाँ है, एक दूसरे से अभिन्न है, जो इनमे भेद करता है वह पाप का भागी होता है। यह सव है परन्तु इसके साथ ही भेद-सूचक सामग्री का प्राचुर्य्य है। वैष्णव पुराण वरावर यह दिखलाते है कि शिव विष्णु के भक्त है और उन्ही की उपासना करते है। इसके विपरीत शैव पुराण विष्णु को शिव का सेवक वताते है। इन्द्रादि की तो गणना ही क्या है, वेचारे ब्रह्मा जी भी विष्णु और शिव के सामने हाथ जोड़े खड़े रहते है। परन्तु जहाँ देवी का

का चर्चा है वहाँ यह बात नही आने पायी है। तीनो महाविद्याओ मे कोई किसी से छोटी या बडी नही है। सभी देवियाँ उस पराशक्ति की ही भेद हैं, यह बात स्पष्ट शब्दो मे समझायी गई है। मार्कण्डेय पुराण म ही सप्तशती नाम का वह ग्रन्थ है जो सारे देश मे देवी माहात्म्य के नाम से प्रसिद्ध है। घर घर मे नवरात्र के दिनो मे इसका पाठ होता है। इसम शुम्भ नाम के दैत्य के वध के प्रसग मे बतलाया गया है कि महासरस्वती की ओर से लडने के लिए सभी देवो के शरीरो से निकल कर उनकी शक्तियाँ युद्ध क्षेत्र मे आयी। कुछ देर बाद शुम्भ ने यह आपत्ति की कि मैं अकेला हूँ। इन सब देवियो के बल पर तुम मुझ से लड रही हो। इस पर देवी ने कहा

एकवाह जगत्यत्र, द्वितीया का ममापरा ।
पश्यैता दुष्ट मय्येव, विशन्त्यो मद्विभूतय ॥

'इस जगत् मे मैं अकेली हूँ। मेरे सिवाय दूसरा कौन है ? दुष्ट, देख, मेरी विभूतियाँ मुझ मे ही समा जाती हैं।' और फिर—

तत समस्तास्ता देव्यो, ब्रह्माणी प्रमुखा लयम् ।
तस्या देव्यास्तनौ जग्मु, रेकैवासीत्तदाम्बिका ॥

'तब ब्रह्माणी आदि वह सब देवियाँ महासरस्वती के शरीर मे विलीन हो गयीं और अम्बिका अकेली ही रह गयी।'

देवी भागवत के तृतीय स्कन्ध मे एक और भी सुन्दर उपाख्यान है जिसमे केवल देवियो का ही नही वरन् सारे जगत् का देवी के साथ तादात्म्य दिखलाया गया है। एक बार ब्रह्मा, विष्णु और शिव विमान पर बठकर चले। उनको अपने से भी बडे त्रिदेव के दर्शन हुए, फिर देवी के लोक मे पहुँचे। वहाँ पहुँच कर द्वार पर ही सब स्त्री हो गये। देवी के पाँव के नख म उनको सचराचर सारा जगत् देख पडा। फिर स्वय देवी न उनसे कहा

नाहं स्त्री न पुमांश्चाहं, न क्लीवं सर्गसंक्षये ।
सर्गे सति विभेदः स्यात्, कल्पितोऽयं धिया पुनः ॥

किं नाहं पश्य संसारे मद्वियुक्तं किमस्ति हि ।
सर्वमेवाहमित्येवं, निश्चयं विद्धि पद्मज ॥

'जगत् के संकोच होने पर न मैं स्त्री हू, न पुरुप, न क्लीव हूँ परन्तु जगत् के पुन. उत्पन्न होने पर यह वुद्धिकल्पित भेद हो जाते हैं। देखो, संसार मे मैं क्या नही हूँ। मेरे सिवाय और क्या है? हे ब्रह्मा, यह निश्चय मानो कि मैं सब कुछ हूँ।'

वैदिक देवो की भाँति पौराणिक देवों की उपासना मे मंत्रपाठ, जप या ध्यानमात्र से काम नहीं चलता था। उनके स्वरूप का वर्णन करना था, उनके आयुधो और वाहनो का वर्णन करना था। यदि यह लोग वुद्ध की भाँति ऐतिहासिक व्यक्ति होते तो भी सुविधा होती। यह वात भी नही थी। कल्पित चित्र खीचने थे। इन चित्रों के आधार वे गुण थे जो पुराणकारो के अनुसार उन देवो मे पाये जाते हैं। ब्रह्मा जी उस कमल पर विराजमान है, जो विष्णु की नाभि से निकला था। उन्होने ही चारों वेदो को मनुष्यों को प्रदान किया था इसलिए चतुर्भुज दिखलाये जाते हैं। उनके हाथ मे कोई शस्त्र नहीं होता। ठीक भी है जो स्रष्टा है वह अपनी वनायी किसी वस्तु का संहार कैसे करे? उसके लिए सभी अच्छी है। उनके पास कमंडलु मे वेद मंत्रो से पवित्र किया हुआ जल रहता है, वह उसी से सिञ्चित करके लोगो को पवित्र करते हैं।

विष्णु चतुर्भुज हैं। वह संसार के पाता, रक्षक है, इसलिए दुष्टो को दंड देने वाले शस्त्र भी है, अच्छे लोगो को पुरस्कार और आश्वासन देने के भी साधन हैं। चारों हाथो मे शंख, चक्र, गदा और पद्म है। चक्र उनका मुख्य आयुध है। वह महालक्ष्मी स्वरुपा उनकी सौदर्शनी शक्ति का वाहरी रूप है। कभी कभी आठ हाथो की मूर्ति भी होती है। उसके आयुधों मे उपर्युक्त चार के सिवाय तलवार, तीर, धनुप और ढाल को जोड़ दिया जाता है। विष्णु के दोनो चरणों के वीच मे पृथिवी होती है।

शकर की बहुधा तो मूर्ति होनी ही नही। लिंग मात्र बना होना है नास्ति मूर्तिरलिंगस्य—अलिग की मूर्ति नही होती। शकर योगिराज हैं, वह स्वय उस तत्व के प्रतीक हैं जिसे 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्'—जो अक्षर, अक्षय है, शब्द, स्पर्श रूप, रस, गन्ध से परे है, उसके प्रतीक, उसकी मूर्ति, मे भी किसी प्रकार की आकृति, कोई अवयव, कोई अग नही होना चाहिए। यह लिंग उस ज्योतिर्लिंग का भी ससूचक है जिसका साक्षात्कार योगी को हृदयचक्र मे पहुँच कर होता है। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि लिंग और वह अर्घ्या जिसमे वह स्थापित होता है लिंग और योनि, पुरुष तत्व और स्त्री तत्त्व, के चिह्न हैं जिनके योग से सृष्टिक्रम चलता रहता है। यदि कभी ऐसा था भी तो आज वह बातें विस्मृत हो गयी हैं। कही कही शकर पञ्चमुख भी दिखलाये जाते हैं। यह मुँह उनके अघोर, तत्वपुरुष, वामदेव, सद्योजात और ईशान, इन पाँच रूपो के सस्मारक हैं।

यहाँ केवल सक्षिप्त वर्णन ही किया जा सकता है। इन देवो के विभिन्न रूपो के पीछे गम्भीर विचारधारायें हैं, आयुधो और वाहनो के दार्शनिक आधार हैं।

वृषभ

उदाहरण के लिए शकर का वाहन वृषभ है। यह बल का प्रतीक तो है ही, पुराणो तथा अन्य ग्रन्थो मे धर्म्म का भी प्रतीक माना जाता है। उसके चार पाँव धर्म्म के चार स्तम्भ स्वरूप हैं। वृषभ शब्द का और भी गम्भीर अर्थ है। उसकी मीमासा सायणादि आचार्य्यों ने नही की। उसका सकेत इस प्रकार किया गया है

> चत्वारि शृगा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
> त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्या आ विवेश ॥
>
> ।४, ५८, ३।

'चार सीग, तीन पाँव, दो सिर और सात हाथ वाला वृषभ त्रिधा बँधा हुआ

साधारणत लोगो के सामने मूर्तिया का रहस्य रखा नहीं जाता, यह बतलाया नही जाता कि मूर्ति प्रतीक मात्र है, वह स्वय उपासना की वस्तु नही है। आदरणीय तो वह गुण हैं जिनके आधार पर वह बनी है। फलत गुण तो भूल गये, मूर्ति स्वय पूजा का विषय बन गयी। जिसको प्रतीकोपासक होना चाहिए था, वह पौत्तलिक बन गया, धातु और पत्थर के टुकडो का पुजारी बन गया।

तुलसीदास ने कहा है

तुलसी प्रतिमा पूजिबो, जिमि गुडियन कर खेल।
भेंट भई जब पीव से, धरी पिटारी मेल ॥

परन्तु जब गुडिया को ही पीव मान लिया जाय तब पिटारी मे बद करने का अवसर कहाँ आ सकता है और पीव से भेंट कहाँ हो सकती है?

गणेश

इस काल मे देव परिवार मे कुछ वृद्धि भी हुई। कुछ नए सदस्या का प्रवेश हुआ। या तो स्थानीय देव देवी घटते बढते रहते है परन्तु मैं जिनकी ओर सकेत कर रहा हूँ उनका महत्त्व सार्वभौम है उनकी पूजा सारे देश मे होती है। इनमे पहिला स्थान गणेश का है। वेदो मे उनका कही चर्चा नहीं है, उनको उद्दिष्ट करके कोई मत्र नही है, उनकी पूजा के समय जो मत्र पढा जाता है 'गणाना त्वा गणपति हवामहे' इत्यादि वह शुक्ल यजुर्वेद के अश्वमेधाध्याय मे आता है और सिवाय गणपति शब्द के उससे कोई ऐसी बात नही है जिससे उसका सबध गणेश से लगाया जा सके। जहाँ तक मैं देख सका हूँ, गणेश यहाँ के अनार्य्यों के उपास्य थे जो धीरे धीरे आर्य्य देवों मे परिगणित हो गये। पहिले वह विनायक के रूप मे आये। विनायक वह दुष्ट सत्त्व है जो सत्कार्य्यों मे विघ्न डालते हैं, दुस्वप्न उत्पन्न करते हैं, अन्य प्रकार से गृहस्थो को दुख देते हैं। उनके शमन के लिए उपाय किये जाते हैं, विनायक शान्ति के लिए वैदिक विधान हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार विनायक के नाम यह हैं—मित, सम्मित, शालकटकट तथा कूष्माण्ड राजपुत्र। किसी किसी शास्त्रकार ने शाल और

कटंकट तथा कूष्माण्ड और राजपुत्र को पृथक करके छः विनायक माना है। पहिले मंगल कार्य्यों का आरम्भ करने से पूर्व विनायक की शान्ति कर दी जाती थी, ताकि वह अनुष्ठान में जाकर उपद्रव न करें। क्रमशः अमंगल वारण की जगह यह पूजा मंगल सिद्धि के लिए होने लगी। यह भावना होने लगी थी कि इस प्रकार की पूजा से अमंगल तो दूर होगा ही, मंगल होगा। गणेश मंगलकारी बन गये। तन्त्र के द्वारा उनका प्रवेश बौद्ध धर्म में हुआ और वह तिब्बत, चीन, दक्षिणपूर्व एशिया और जापान पहुँचे। तुर्किस्तान में उनकी मूर्ति मिलती है। पृथिवी पर स्यात् ही किसी देव देवी का प्रभाव इतने व्यापक रूप से फैला हो। महाराष्ट्र में गणपति उत्सव बड़े धूमधाम से मनाया जाता है।

हनुमान्

दूसरा नाम जो सामने आता है हनुमान् का है। हनुमान् तो वानर थे ही। वह विद्वान् थे। कहा जाता है कि उन्होंने साक्षात् सूर्य्य से व्याकरण पढ़ा था और राम के परम मित्र, सहायक और भक्त थे। लंका पर विजय प्राप्त होने का बहुत बड़ा श्रेय उनको है। उनका समादर आर्य्य जाति की कृतज्ञता का उज्ज्वल उदाहरण है। राम की पूजा के साथ उनकी पूजा भी बढ़ी। वेदों में तो भला उनका चर्चा कहाँ मिल सकता है? परन्तु उनको मारुती कहते हैं, वायु का पुत्र मानते हैं। मरुत्, वायु, वेदमान्य हैं, इस प्रकार हनुमान का वैदिक विधान से कुछ सम्बन्ध निकल ही आया।

सूर्य

यहाँ पर सूर्य्य का उल्लेख भी अप्रासंगिक न होगा। वेद में सूर्य्य का स्थान बहुत ऊँचा है। फिर भी जब दूसरे वैदिक देवों का ह्रास हुआ तो उनको भी आदरच्युत होना ही पड़ता। परन्तु एक ऐतिहासिक घटना ने उनको बचा लिया। भारत पर शकों ने आक्रमण किया। वह लोग सूर्य्योपासक थे। उनके साथ से सूर्योपासना को नया बल मिल गया। सूर्य्य की भी प्रतिमाएँ बनने लगीं। पुरानी प्रतिमाओं में सूर्य शक वेष में मिलते हैं: शलवार और बूट पहिने तथा खड़े। फिर धीरे धीरे उनका भारतीयकरण हुआ। वेश भूषा बदल गया। अब वह नंगे पाँव, धोती पहिने, देख पड़ते हैं। शाकद्वीपी ब्राह्मण आज भी कहते हैं

कि श्रीकृष्ण के पौत्र शाम्ब को कुष्ट हुआ था। जब भारत मे उसका उपचार न हो सका तो हम लोग शकद्वीप से बुलाये गये। हमारे पूर्वजो ने सूर्य्य के मन्त्र के प्रताप से शाम्ब को रोगमुक्त किया।

वेद से समाज कितनी ही दूर हट गया हो परन्तु जब तक किसी पूजा पाठ की विधि को वेद से नही जोड लिया जाता तब तक चित्त को शान्ति नही मिलती। अशिक्षित लोग बैठकर चाहे भूत प्रेत की ही पूजा करते हो परन्तु थोडा-सा हवन करना इस सब का आवश्यक अग है और हवन मे 'स्वाहा' शब्द आता ही है। किसी देव देवी की पूजा मे यदि वेद मन्त्र पढा जा सके तो उसकी महत्ता बढ जाती है। पौराणिक काल मे नवग्रह की पूजा का चलन पडा। नवग्रह न तो वैदिक देव है न देवता। सूर्य्य और चन्द्रमा को छोडकर और ग्रहो की चर्चा वेद मे नही मिल सकता, कम से कम और किसी की पूजा का विधान तो नही ही है। नवग्रह पूजा के साथ साथ अनुकूल मन्त्रो की खोज हुई। किसी न किसी प्रकार खीच-खाच कर कुछ मन्त्र ग्रहो के साथ जोडे गये। उदाहरण के लिए शनि के लिए यह मन्त्र पढा जाता है

> शन्नो देवी रभिष्टये आपो भवन्तु पीतये,
> श योरभिस्रवन्तु न । १०, ९, ४ ।

इसका तात्पर्य तो यह है कि जल हमारे पीने योग्य हो, बरसकर हमारा कल्याण करे और अमगल को हमसे दूर करे। इसमे कही शनि का चर्चा नही है, केवल मन्त्र के आरम्भ के शन्नो और शनि के ध्वनिसाम्य के आधार पर मन्त्र शनि को द दिया गया है।

गऊ को वैदिक काल मे भी अघ्न्या, अवध्य, कहते थे, पौराणिक काल मे उसका महत्त्व और बढ गया। उसको मातृपद दिया गया। ऐसा लगता है कि पौराणिक काल के पूर्वार्ध तक गऊ को इतनी मान्यता नही मिली थी, क्यो कि भारत से जो लोग उपनिवेश बसाने के लिए बाहर गये वह गऊ की प्रतिष्ठा अपने साथ नही ले गये।

गणेशादि का समावेश कुछ शतियो म हुआ होगा। जैसा कि ऐसी बातो मे होता है, पहिले तो साधारण लोगो, अशिक्षित प्राय जनता, का झुकाव इधर

हुआ होगा। अपने अनार्य्य पड़ोसियो की देखा देखी उन्होंने नये देव देवियों को अपनाया होगा, सम्भवतः विद्वानों ने विरोध किया होगा या उपेक्षा की होगी। पर जब नयी पूजाओं की जड़ जम गयी होगी तब विवश होकर उनको शास्त्रीय रूप देना पड़ा होगा, नवीन का प्राचीन से समन्वय करना पड़ा होगा।

अनार्य्यों की विशाल संख्या का प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता था। उनके दो प्रमुख उदाहरण हैं। दक्षिण भारत के द्रविड़ों में नाग पूजा का बड़ा महत्व था, वह सर्वत्र फैल गयी। दूसरा उदाहरण बड़े नीचे स्तर का है। आर्य्यों के देव सभी प्रसन्नवदन, सुन्दर, तेजस्वी थे। देव शब्द ही दिव धातु से निकला है, जिसका अर्थ है चमकना। अब वह इस स्तर से नीचे उतरे। रोगादि के पीछे काम करने वाली शक्तियों, हीन देवताओं, की भी पूजा होने लगी।

शीतला

इनकी प्रतीक शीतला है। किसी ने ठीक ही कहा है :

यादृशी शीतला देवी, तादृशो वाहनो खरः।

'जैसी शीतला देवी, वैसी उनकी सवारी, गधा।' शीतला को बहुत ऊँचा स्थान तो प्राप्त नही हो सका, परन्तु उनकी पूजा तो व्यापक है ही। जब कभी किसी रोग का प्रकोप होता है तो उनकी और उनके गणो की अर्चना बड़े जोरों से होने लगती है।

इस प्रकार देव परिवार मे परिवर्तन हुए। वैदिक देवों मे से कुछ रह गये, कइयों की पूजा प्रायः छोड़ दी गयी। तीन तो ऊपर उठे, शेष की महत्ता जाती रही। कुछ नयी मूर्तियो का समावेश हुआ, इनमे से एकाध के सम्बन्ध मे तो यह कहना पड़ता है कि इनके आने से न तो देवकुल की मर्य्यादा बढ़ी, न उपासको की। उपासना की पद्धति मे भी बहुत अन्तर हो गया। मनुष्य अब अपने उपास्य के बहुत निकट आ गया। तपस्या की आवश्यकता नही रही, मंत्रो को सिद्ध

करने की आवश्यकता नहीं रही, अपने इष्ट देव से सीधे प्रार्थना की जा सकती थी। इष्टदेव भी मानव शरीरधारी थे, उनके साथ स्वभावत अपनापन जल्दी स्थापित हो सकता था।

वैदिक देव अशरीरी थे, उनके साथ कुछ न कुछ दूर का सम्बन्ध रहता था। स्नेह हो परन्तु उनका राव भी छाया रहता था। पौराणिक उपास्य वैसा अशरीरी नहीं था। देव मनुष्य के अधिक निकट आ गया था, उसके चरित्र का अनुकरण हो सकता था। यह आपसदारी का भाव मनुष्य को ऊपर उठा सकता था, पर यदि उपास्य का स्वय चरित्र दूषित हो तो हानिकर भी हो सकता था।

इस युग में बहुत से स्थानों को महत्ता प्राप्त हुई। वैष्णव, शैव और शाक्त तीर्थ इसी युग की देन हैं। तीर्थ स्थान समूचे देश मे फैले हुए हैं। नगर ही नहीं, कई नदी और पहाड भी पवित्र माने जाते हैं। निश्चय ही किन्हीं महापुरुषों के निवास न उनको किसी समय यह गौरव प्रदान किया था परन्तु अब चाहे महापुरुषों की कथाएँ भूल गयी हों पर तीर्थों का गौरव बना हुआ है। यह बात निश्चय है कि महापुरुषों की परम्परा के लोप होने से लोगों की श्रद्धा तीर्थों पर से हट गयी है। इस सम्बन्ध मे स्कन्द पुराण देखने योग्य है। उस समय के भारत की बृहत् निर्देशिका है। स्थानों का भौगोलिक वर्णन है, किस न किस तीर्थ की पहिले प्रतिष्ठा की, किसने कहाँ तप किया, सारा इतिवृत्त लिखा हुआ है। इनमे से कई कथाओं का बडा महत्व है। उनमे पुराने इतिहास की झलक है। उदाहरण के लिए, काशी खण्ड मे उस स्थान का चर्चा है जिसे आज भी अगस्त्य कुण्ड कहते हैं। वहाँ अपनी पत्नी लोपामुद्रा के साथ महर्षि अगस्त्य रहते थे। एक बार विन्ध्याचल को इस बात पर बडा क्रोध आया कि हिमाचल मेरे सामने का लडका है परन्तु देवगण ने उस पर अपने निवास स्थान बनाकर उसको व्यर्थ महत्त्व दिला दिया है। क्रोध मे वह खडा हो गया। उसकी ऊँचाई ने सूर्य का दक्षिणायन मार्ग रोक दिया। कोई अन्य उपाय न देखकर देवगण उसके गुरु अगस्त्य के पास गये। उन्होंने काशी से सदा के लिए विदा ली और दक्षिण की ओर गये। विन्ध्य उनको प्रणाम करने के लिए झुका। उन्होंने उससे कहा कि जब तक मैं न लौटूं तब तक तुम ऐसे ही पडे रहो। न वह लौटे, न पहाड खडा हुआ। भूगर्भ शास्त्र के अनुसार विन्ध्य सचमुच हिमालय से पुराना है। कथा मे

उस समय की स्मृति सुरक्षित है जब आर्यों ने हिमालय को पहले देखा था। इस बात का भी पर्याप्त प्रमाण है कि सबसे पहिले अगस्त्य ही दक्षिण भारत गये थे। आज भी वहां यही अनुश्रुति है। इस बात की स्मृति भी इस कथा में है। सम्भव है अगस्त्य की यात्रा के पहिले विन्ध्य में कोई भारी ज्वालामुखी जैसा विस्फोट हुआ हो जिसकी ओर कथा में संकेत है। यह नितान्त नयी बात नहीं है। वैदिक काल में भी नदियों और पर्वतों के अधिष्ठातृ देवताओं का समादर होता था। सरस्वती आर्यों के निवास क्षेत्र सप्तसिन्धव की पूर्वी सीमा थी। वह वैदिक देवता भी थीं। आज भी सरस्वती की वैसी ही प्रतिष्ठा है। हम वीणा पुस्तक-धारिणी रूप में उनके सामने सिर झुकाते हैं। वेद में भी उनको, **चोदयित्री सूनृतानाम्, चेतन्ती सुमतीनाम्** (१, ३, ११) सत्य बात कहने की प्रेरणा करने वाली, सुमति का ज्ञान करानेवाली, कहा है। वेद में सरस्वती, भारती, इड़ा को **'तिस्रो देवीः'** (१०, ११०, ८) 'तीन देवियां कहा है, पौराणिक काल में ये तीनों नाम एक ही देवी के हो गये।

> **पूषा विष्णुर्हवनं मे, सरस्वत्यवन्तु सप्त सिन्धवः ॥**
> **आपो वातः पर्वतासो, वनस्पतिः शृणोतु पृथिवी हवम् ॥** ८, ५५, ४।

'पूषा, विष्णु, सरस्वती, सातों नदी मेरे हवन की रक्षा करें। जल, वायु, पर्वत, वनस्पति और पृथिवी मेरे इस मंत्र पाठ को सुनें।' आज भी इस परम्परा का पालन होता है। विशेष पूजाओं के समय नदी, पर्वत आदि को पुकारा जाता है। उदाहरण के लिए:

> **गंगे च यमुने चैव, गोदावरि, सरस्वति ।**
> **नर्मदे, सिन्धु, कावेरि, जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु ॥**

'हे गंगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिन्धु, कावेरी, इस जल में सन्निधि करो, पूजा के लिए सामने रखे हुए इस जल में प्रवेश करो।'

ये पवित्र स्थल समस्त देश में फैले हुए हैं। हिमालय पर स्थित अमरनाथ, बदरी और केदार से समुद्रतटवर्ती पुरी, द्वारका और रामेश्वर तक विद्यमान ये तीर्थ भारत की एकता का सन्देश सुना रहे हैं।

देव परिवार मे ऐसी बाढ आयी कि प्रतीत होता है कि उसने सारी पुरानी बातो को बहाकर फेंक दिया। परन्तु ऐसा पूणरूपेण न हो सका। आय्य जनता की सहस्रो वर्षो की अनुभूतियाँ मकायक नही मिटायी जा सकती थी। कई पीढिया की अनुश्रुतिया थीं, उनके रूप काल पाकर बदल जायँ पर सबकी सब स्मृति पटल पर से हट नही सकती थी। पुराणकारा ने कई वैदिक गाथाओ और मत्रा से काम लिया और उनको रूपान्तर देकर पुराणो मे सन्निविष्ट किया। इसमे दो एक उदाहरण देना आवश्यक है। तैत्तिरीय ब्राह्मण के प्रथम प्रपाठक के तृतीय अनुवाक मे कहा है

आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्। तेन प्रजापतिरश्राम्यत् कथमिद स्यादिति।
सोऽपश्यत पुष्करपर्णं तिष्ठत सोऽमन्यत्।
अस्ति वै तत् यस्मिन्निदमधितिष्ठतीति।

सो वराहो रूप कृत्वोपमन्यमज्जत्।
स पृथिवीमध आचत्। तस्या उपहत्यामज्जत्॥

'पहिले यह सब आप था, सलिल था। तब प्रजापति सोचने लगे यह कैसे होगा? तब उन्हाने कमल के पत्र को देखा। तब उन्होने सोचा कि कुछ तो है जिस पर यह टिका है। उन्हाने वराह का रूप धारण करके डुबकी लगायी। उन्होंने नीचे पृथिवी को पाया। उसको लेकर ऊपर आये।'

पढने से ही यह कथा परिचित सी लगती है। इसमे उस अवस्था का वणन है जब जगत् बनन वाला था, उस समय केवल आप या सलिल था। मैं सलिलका अथ पहिले लिख चुका हूँ। आप और सलिल, यह दोना शब्द ऐसे अभागे हैं कि लाग इनका अथ जल कर दिया करते है। जिस समय सूर्य्यादि तजस वस्तुए भी नही बनी थी उस समय जल कैसे हो सकता था? काय्य से कारण नही बनता, जल से तेज नही बन सकता। इस वैदिक आख्यान से दो पौराणिक कथाएँ निकली हैं। पुराणा के अनुसार जगत् के आदि काल मे सवत्र सलिल था। उसमे विष्णु शयन कर रहे थे। काल पाकर उनकी नाभि से कमल निकला। उस पर ब्रह्मा जी बैठे थे। वह इस चिन्ता मे हुए कि मैं क्या करूँ? तब उनको

तप करने की प्रेरणा हुई। तप करने पर उनको जगत् के निर्माण क्रम का ज्ञान हुआ। दूसरी कथा वाराह अवतार की है। हिरण्याक्ष नामक असुर पृथिवी को पाताल उठा ले गया। विष्णु ने वराह का रूप धारण करके जल में प्रवेश किया और पृथिवी को लेकर बाहर आये। इसमें प्रजापति की जगह विष्णु का नाम आया है और वैदिक आख्यान में हिरण्याक्ष का नाम नहीं है परन्तु कथाओं का साम्य स्पष्ट है। वराह और कमल जैसे शब्द तो लाक्षणिक है : किसी अर्थ विशेष में उनका प्रयोग हुआ है।

हमारे दार्शनिक वाङ्मय में वराह शब्द कई अर्थों मे प्रयुक्त हुआ है। उस सारे विमर्श मे जाना अप्रासंगिक होगा। पुराणों के अनुसार विष्णु ने यज्ञवराह' का रूप धारण किया था। यज्ञवराह के शरीर मे सभी यज्ञांग स्थित है। इस कथा का एक अर्थ यह हुआ कि पृथ्वी का उद्धार यज्ञ के द्वारा ही हो सकता है।

वामन अवतार की कथा भी वैदिक उपाख्यान की छाया है। राजा बलि असुर थे, इसलिए देवों से उनकी लड़ाई रहती थी। उन्होंने स्वर्ग जीत लिया था। विष्णु ने वामन रूप से उनसे तीन पाँव भर स्थान माँगा और इसी मे तीनों लोकों को नाप लिया। इसी से उनका नाम त्रिविक्रम पड़ा। इन्द्र को स्वर्ग मिल गया। असुरों की जीत से जो धर्म्म विस्थापित हो गया था वह पुनः सुस्थापित हो गया। इस कथा का पूर्व रूप उस मंत्र में मिलता है जिसे हम पहिले उद्धृत कर चुके हैं :

इदं त्रेधा विचक्रमे, विष्णुर्गोपा अदाभ्यः
अतो धर्म्माणि धारयन् ।

'अजेय रक्षक विष्णु तीन पद चले और इस प्रकार उन्होंने धर्म्मों को धारण किया।' यहाँ बलि और वामन का नाम नही है परन्तु मुख्य रूप से कथा वही है। केरल प्रदेश मे इसके आधार पर अब भी बहुत बड़ा उत्सव मनाया जाता है। इस का नाम ओनम है। वहाँ लोगो का विश्वास है कि बलि वहीं के राजा थे। जब उनको छलकर विष्णु ने उनसे उनका सारा राज्य ले लिया और उनको पाताल भेज दिया तो उन्होने यह वरदान माँगा कि मैं साल मे एक बार पृथ्वी पर आकर अपना राज्य देख लिया करूँ। उनकी यह बात मान ली गयी। उनके आने के

समय हर जगह धमधाम होती है, रोशनी की जाती है, नाच गाना होता है। इस बात का पूरा प्रयत्न होता है कि उनका पूरा स्वागत हो और वह यह भाव लेकर पाताल लौटें कि मेरी प्रजा सुखी है।

परन्तु ऐसी कथाओ के साथ-साथ पुराणो मे ऐसी कथाएँ भी दी गई हैं जिनका आधार वैदिक होते हुए भी प्रभाव अच्छा नही पड सकता। मैं इनमे से एक का सक्षेप मे चर्चा करूँगा। यह ब्रह्मा जी के सम्बन्ध मे है। कहा जाता है कि कामासक्त होकर उन्होने अपनी पुत्री का पीछा किया और उसके गर्भ से आदित्य नाम का एक पुत्र हुआ। इसका मूल स्रोत ऋग्वेद (३, ३१, १) मे है कि पिता ने अपनी कन्या मे पुत्र उत्पन्न किया। ब्राह्मण ग्रथो ने इसको यो समझाया है प्रजापति सूर्य्य* का नाम है। उनकी पुत्री उषा है। यह वह हल्की लालिमा है जो आकाश मे सूर्य्योदय के पहिले छा जाती है। सूर्य्य उषा के पीछे दौडता है। आगे आगे प्रत्येक स्थान मे उषा देख पडती है, पीछे सूर्य्य। फिर सूर्य्य का पुत्र, दिन, आता है।

यह प्राकृतिक दृश्विषयो के वर्णन है। वेद मे इनको ऐसी भाषा मे क्यो लिखा गया, मैं नही जानता। यदि ऐसे उपाख्यानो के कोई और गम्भीर अर्थ हैं जिन्हें ब्राह्मण ग्रन्थ भी नही समझ सके तो उन्हे मैं भी नही जानता। परन्तु ऐसा मेरा दृढ़ मत है कि इन कथाओ को पुराणो मे नहीं देना चाहिए था। पुराण जन साधारण के लिए है। यह आशा करना कि लोग गम्भीर आध्यात्मिक अर्थ का समर्थ लेंगे या प्राकृतिक दृश्विषयो की बात समझ लेंगे दुराशामात्र है। एक ही परिणाम हो सकता था और वही हुआ भी। लोगो के मन में ब्रह्मा आदि के दुराचारी होने की बात बैठ गयी। यदि पुराणो का उद्देश्य धर्म्म का प्रचार हो तो ऐसी बातें उस उद्देश्य के विरुद्ध जाती हैं। जब जगत्स्रष्टा ब्रह्मा ऐसे नीच कर्म्म कर सकते हैं तो दूसरो का भला क्या कहना है? नैतिक दुर्बलता को ऐसी बातो से प्रश्रय मिलता है।

---

* प्रजापति की कथा के सम्बन्ध मे मैंने जो लेख लिखा है उसका आधार स्वामी दयानन्द कृत ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका है।

नवाँ अध्याय

पौराणिक काल की कुछ मौलिक प्रवृत्तियाँ

जब तक अवतारों का चर्चा न किया जाय तब तक उस काल की धार्मिक अवस्था का वर्णन अपूर्ण रह जायगा। अवतार का अर्थ है, नीचे उतरना। इस शब्द की परिभाषा इस प्रकार की जाती है :

देवानां विशेषतो विष्णोर्मूर्त्यन्तरेण पूर्णांशावशेषरूपेण पृथिव्यामवतरणम्

किसी देव, विशेषतः विष्णु, का अपने साधारण रूप से भिन्न रूप में पृथिवी पर इस प्रकार उतरना कि उनका पूर्णांश अवशिष्ट रहे, अवतार कहलाता है। यदि कोई देव पृथिवी पर अपने एक अंश से आता है और उसका शेष अंश उसके लोक में रह जाता है तो यह अवतार नहीं हुआ। यदि वह अपने सामान्य देह से आता है तब भी अवतार नहीं हुआ। विष्णु एक बार मछली के रूप मे पृथिवी पर उतरे, यह उनका साधारण रूप नहीं है। जब वह यहाँ मछली के रूप मे देख पड़ रहे थे उस समय भी उनके टुकड़े नहीं हुए थे। वह अपने पूर्णरूप से अपने लोक, वैकुण्ठ, मे स्थित थे। इसलिए उनका इस प्रकार उतरना अवतार कहलाता है। अवतार तो किसी देव देवी का हो सकता है परन्तु जगत् के पालक और धर्म्म की मर्यादा के रक्षक होने के कारण विष्णु को बार बार अवतार लेना पड़ता है। अवतारों का लक्षण भगवद्गीता के इन शब्दों से व्यक्त होता है :

यदा यदा हि धर्म्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्म्मस्य, तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

परित्राणाय साधूनाम्, विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्म्म संस्थापनार्थाय, संभवामि युगे युगे ।।

'हे अर्जुन, जब जब धर्म्म का ह्रास और अधर्म का उदय होता है, तब तब साधुओं की रक्षा के लिए, दुष्टों के विनाश के लिए और धर्म के संस्थापन के लिए मैं अपने को उत्पन्न करता हूँ।'

ऐसे समय तो सभी दशा में आते रहते हैं, इसीलिए कहा गया है कि विष्णु के अवतारों की संख्या नहीं है। जब जहाँ जैसी आवश्यकता पडती है तब वहाँ वह अपने को उस रूप में प्रकट करते हैं। अवतारों में चौबीस मुख्य माने गये हैं और इनमें भी दस प्रधान हैं। नव अवतार हो चुके हैं, दसवाँ, कल्कि, होने को है। वह कलियुग के अन्त के लगभग होगा। कलियुग की आयु ४, ३२,००० वर्ष मानी जाती है जिसमें कि अभी ५,००० वर्ष बीते हैं। कल्कि के आने में अभी सवा चार लाख वर्ष बाकी है।

यद्यपि सब अवतार विष्णु के ही हैं परन्तु सबकी मर्य्यादा समान नहीं है। किसी में विष्णु की ४ कला, किसी में ८ कला अभिव्यक्त मानी जाती है, कृष्ण पूर्ण कला सम्पन्न हैं। दो अवतार, परशुराम और राम, समसामयिक थे पर इनमें राम की मर्य्यादा बड़ी थी। परशुराम रूपी विष्णु से रामरूपी विष्णु की वन्दना करायी गयी है। इसमें बेचारे पुराणकारों को क्या दोष दिया जाय ? वे दया के पात्र हैं। उन्होंने किसी बडे का अपमान कराये बिना अपने प्रिय उपास्यों की बड़ाई करना सीखा ही नहीं। अवतारों की कथाओं में बहुत सी ऐतिहासिक घटनाएँ होंगी। इनमें से कुछ घटनाएँ तो सहस्रों वर्ष पूर्व की होंगी जिनकी झीनी सी स्मृति रह गयी होगी। राम और कृष्ण, विशेषतः राम, की जीवनकथा कई रूपों में मिलती है। धीरे धीरे उनका एक रूप स्थिर हो गया और प्रामाणिक मान लिया गया। इसका श्रेय बहुत कुछ वाल्मीकि जैसे महाकवियों का है।

अवतारों, विशेषतः राम और कृष्ण, के इतिवृत्तों में सैकड़ों वर्षों का इतिहास भरा है। तत्कालीन भारत का एक सुंदर सामाजिक, राजनीतिक

और धार्मिक चित्रण इन वृतान्तो मे मिलता है। राम और कृष्ण अवतार रहे हों या न रहे हो परन्तु रामायण और महाभारत के ओजस्वी ग्रन्थ आर्य्य जाति की अक्षय निधि है और हमको सदा स्फूर्ति देते रहेंगे।

अवतारवाद कहाँ तक वेदसम्मत है, यह विवादग्रस्त प्रश्न है। ऐसी बहुत सी कथाएँ हैं जिनमे देव देवियो ने मनुष्यों की सदेह सहायता की है। परन्तु अवतारों की गतिविधि भिन्न है। जिन अवतारो की विशेष रूप से पूजा होती है वे पृथिवी पर थोड़ी देर के लिए नही आये। वरसों रहे, नर लीला की, पिता, पुत्र, पति जैसा आचरण किया, युद्धों मे लडे, हारे भी और जीते भी—सारा जीवन मानव स्तर पर बिताया। उनके जीवन मनुष्यों को पदे पदे प्रभावित करते हैं।

यह ठीक है कि अवतारो के आधार विष्णु हैं। उपासक यह जानता है परन्तु उपासना मे रत होकर प्रतिक्षण अपने को इस बात की स्मृति नहीं दिलाया करता। व्यवहार मे ऐसा हो गया है जैसे अवतार पृथक् देव हों, और देव परिवार मे पीछे से सम्मिलित हुए हों। उनके पृथक् मन्दिर हैं। सच बात यह है कि विष्णु मन्दिरों की अपेक्षा राम और कृष्ण के मन्दिर अधिक हैं और साहित्य, संगीत, चित्रकला और मूर्तिकला पर विष्णु की अपेक्षा राम और कृष्ण का अधिक प्रभाव पडा है। शुद्ध विष्णु की अपेक्षा राम और कृष्ण की उपासना करनेवालों की संख्या भी अधिक है।

विष्णु तो वैदिक देव और देवता हैं ही परन्तु उनके अवतारो का चर्चा भला वेद मे कहाँ मिल सकता है? उनका तो वेद के साथ सम्बन्ध विष्णु के माध्यम से ही हो सकता है, परन्तु उनके भक्तो को इससे सन्तोष नहीं हुआ। सहिता भाग के मत्र गिने हुए है, उसमे प्रक्षेप करना कठिन होता है। परन्तु उपनिषद् भाग मे ऐसा करना कुछ सुकर प्रतीत होता है। कुछ उपनिषद् तो सर्वसम्मत है, परन्तु उपनिषद् नाम की बहुत सी पुस्तके हैं। इनमे से कई स्पष्ट ही पीछे से लिखी गयी है। मेरा दृढ विश्वास है कि अवतारो के नाम से प्रसिद्ध रामतापनी, गोपालतापनी और नृसिहतापनी इसी कोटि की उपनिषद् हैं।

अवतारो मे मत्स्य और कूर्म दो जलचर, वराह वनचर, नृसिह अर्द्ध वनचर, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि मनुष्य हैं। मनुष्यों मे परशुराम, वामन और कल्कि ब्राह्मण है, राम, कृष्ण और बुद्ध क्षत्रिय। अवतारो के सम्बन्ध में कई विलक्षण बातें कही जाती हैं। बुद्धदेव की गणना दस मुख्य अवतारा मे हैं। यह मानना चाहिए कि वह धम्म की वृद्धि और अधम्म का क्षय करने आये थे। पुराणो मे लिखा है कि असुरो ने वेदाध्ययन और यज्ञ-याग करना आरम्भ कर दिया। इससे उनको बल प्राप्त हुआ और उन्हाने देवो को परास्त कर दिया। यह कथा पहिले तो इतिहास की दृष्टि से असत्य है। बुद्ध को २५०० वप हुए हैं। तब न तो पृथिवी पर देव थे, न असुर। अस्तु, कहा जाता है कि देवा की सहायता करन के लिए विष्णु भिक्षुक का रूप धर कर आय और अपन प्रवचना मे वेद और वैदिक कम्मकाण्ड की निंदा करने लगे। उनकी बातों से प्रभावित होकर असुर लोग वेद से पराङ्मुख हो गये। इससे उनकी शक्ति क्षीण हा गयी और देवो न उनको पराभूत कर लिया। जिन लोगा ने इस कथा को गढा उनके मस्तिष्क भी कैसे विकत थे? जो लोग वैदिक कम्मा का अनुष्ठान कर रह थे वे क्या बुरा काम कर रहे थे! उनको हराने के लिये वेद का ही खडन कर दिया गया। वेद कहता है विष्णुर्वैयज्ञ, विष्णु यज्ञ स्वरूप हैं, उन्होने ऐसा निद्य कम्म क्यो कर डाला? व्यक्ति का कम्म देखा जाता है उसका सुर या असुर होना उसकी भलाइ बुराई की कसौटी नही हो सकता। यदि असुर होना ही मनुष्य को दूषित बना देता है तो प्रह्लाद भी तो असुर था। उसकी महायता के लिए विष्णु ने नृसिंह रूप क्या धारण किया था? वद की मर्य्यादा को नष्ट करके बुद्ध रूपी विष्णु ने पृथिवी के भार को चढ़ाया या हल्का किया?

साधारणत कृष्ण की गणना अवतारो मे है परन्तु परम भक्त जयदेव, उनका भगवान् मानत हैं और कहते हैं केशवधृत हलधर रूप—केशव न हलधर बलराम, के रूप मे अवतार लिया।

मत्स्यावतार की कथा मे पृथ्वी के भौगोलिक इतिहास के एक महत्त्वपूर्ण अध्याय की ओर संकेत देख पड़ता है। आज से कई सहस्र वप पहिले पृथ्वी के बहुत बडे भाग पर लगातार बहुत दिना तक भयकर वर्षा हुई और बहुत बडा

भूभाग जल में निमग्न हो गया। कई देशो मे ऐसी अनुश्रुति है, धर्मग्रन्थों में भी इसका चर्चा है। बाइबिल के अनुसार चालीस दिन रात वर्षा होती रही। मत्स्यावतार की कथा मे वर्षा का उल्लेख नहीं है, जलप्लावन का है। कुछ विद्वानो का मत है कि पहिले किन्ही कारणों से उन देशों में जिनसे बाइबिल का सम्बन्ध था वर्षा हुई फिर उन असाधारण वृष्टि से समुद्र का जल बढा और उसने उन देशो को डुबा दिया जिनका परिचय पुराणकारों को था। सम्भवतः उसी उथल पुथल मे राजपुताना का भूतल ऊँचा हो गया और राजस्थान के समुद्र की जगह मरुस्थल हो गया। जलप्लावन का इतना व्यापक वृत्तान्त मिलता है कि यह किसी की कल्पना नहीं वास्तविक घटना प्रतीत होती है।

पुराणकाल में धीरे धीरे पांच देवो को प्रधानता मिली, अत. लोग पञ्चदेवोपासक कहलाने लगे। यह हैं, विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य्य और गणेश। विष्णु के अंतर्गत उनके अवतार भी हैं। पञ्चदेवोपासक नाम अब भी चला आता है परन्तु आजकल वस्तुतः त्रिदेवोपासक कहना अधिक ठीक होगा। पृथक् गाणपत्य और सौर सम्प्रदायों का प्रायः लोप हो गया है। गणेशोपासक शैवों मे और सूर्य्योपासक वैष्णवो मे मिल गये है। इसलिए व्यवहार में विष्णु, शिव और शक्ति तीन ही है, यो गणेश और सूर्य्य सब के ही मान्य है।

इतने उपास्यों की सृष्टि होने पर उपासना पद्धति मे परिवर्तन होना अनिवार्य्य था। देवो से प्रार्थनाएँ अब भी की जाती थी, पर ये प्रार्थनाएँ वेद मंत्रों से बहुत भिन्न थी। जैसा कि पहिले कहा जा चुका था है, मंत्र केवल व्याकरण-सम्मत वाक्य नही है, वे ध्वनियो के समूह हैं। यदि ठीक ठीक उच्चारण करके ध्वनि विशेष प्रसारित की गयी तो वह शक्ति के समूह को आलोड़ित करेगी ही, शक्तिविशेष जागेगी ही, फलविशेष होगा ही। मंत्र निष्फल जा ही नहीं सकता। उसकी फलप्राप्ति के लिए तपस्या अपेक्षित है। परन्तु पौराणिक काल मे दूसरा मार्ग अपनाया गया। किसी ने यह नही कहा कि तपस्या बुरी चीज है। कहा यह गया कि कलियुग के मनुष्यो से तप सपड़ नही सकता। भारत मे पुरानी बातो को यो ही हटाया जाता है। उनको बुरा नही कहते, यह कहते हैं कि आजकल के मनुष्यो मे योग्यता की कमी है। अस्तु, जब तप नही करना है तो वेद मत्रो की सिद्धि कैसी होगी? उनको छोड़ दिया गया और देवो से

सीधे प्रार्थना करने का मार्ग अपनाया गया। एक नये प्रकार के स्तोत्र साहित्य का जन्म हुआ। स्तोता को अपने स्तोत्र के शब्दो मे निहित किसी शक्ति विशेष का भरोसा नही था, अपनी श्रद्धा, अपनी अनन्यता, का भरोसा था। मन्त्र का प्रभाव अनिवार्य था, स्तोत्र मे यह बल नही था परन्तु जिसकी स्तुति की जा रही थी उसकी उदारता और दयालुता पर अटूट विश्वास था।

देव और असुर एक दूसरे से बहुत दूर नहीं रहते, जहाँ देवो का चर्चा होगा वही असुरो का भी चर्चा मिलेगा। उनमे आपस का सम्बन्ध भी है। महर्षि कश्यप की दनु और दिति नाम की पत्निया के अपत्य दानव और दैत्य हैं, अदिति की सन्तति आदित्य हैं। एक दूसरे के सौतेले भाई हैं। शक्ति भी समान है। अन्तर इतना ही है कि असुर अपनी शक्ति का दुरुपयोग करके लोगो को सताते हैं सत्कर्मों मे बाधा डालते हैं। इन बातो की ओर वैदिक वाङ्मय मे भी सकेत है परन्तु पुराणो मे सकेत का विस्तार करके रोचक कथाएँ बन गयी हैं। निश्चय ही इन कथाओ मे से कइयो का आधार उस काल की लोकानुश्रुत पुरानी वीर गाथाएँ होगी।

देवासुर सग्राम सम्बन्धी कई कथाएँ रोचक ही नही, बहुत उपदेशप्रद हैं और उनसे प्रतीत होता है कि कथाकार का मनोवैज्ञानिक ज्ञान बहुत गम्भीर था। उदाहरण के लिए, महिषमर्दिनी की कथा लीजिए। महिषासुर बलवान् असुर था। उसने देवो को परास्त किया था। उससे त्रस्त होकर देवगण भागे फिरते थे। जब उनको कोई आश्रय नही मिला तब घबराकर देवगुरु बृहस्पति की शरण मे गये। उस घोर विपत्ति के समय उनके शरीरो से तेज निकला। सब तेज एकत्र होकर नारी रूप हो गया। उससे महिष का युद्ध हुआ और वह मारा गया। इसी विग्रह को महिषमर्दिनी कहते हैं। महिष के वध के बाद देवो ने स्तुति की। उसमे उन्होने एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न पूछा और स्वय उसका उत्तर भी दिया। प्रश्न यह है

> दृष्ट्वा हि किं न भवती प्रकरोति भस्म।
> सर्वासुरानरिषु यत्प्रहिणोषि शस्त्रम्॥

'आपने इनको देखकर ही क्यों नहीं भस्म कर दिया कि इन असुरों पर शस्त्र चलाया।' और उत्तर इस प्रकार है :

एभिर्हतैर्जगदुपैति सुखं तथैते,

कुर्वन्तु नाम नरकाय चिराय पापम्।

संग्राममृत्युमधिगम्य दिवं प्रयान्तु,

'इनके मारे जाने से जगत् को सुख हो और यह भी, चाहे कितना भी नरक ले जाने वाला पाप करते रहे हों, इस समय युद्ध मे आप के हाथ से सम्मुख मारे जाकर स्वर्ग को जाँय।' स्तुति मे कहा भी है : चित्ते कृपा समरनिष्ठुरता च दृष्टा त्वय्येव देवि—हे देवि, युद्ध मे निष्ठुरता के साथ चित्त मे कृपा आप में ही देखी गयी है।

इस कथा में कई गम्भीरार्थक बातें कही गयी हैं। कथा के आरम्भ में कहा गया है कि महिष घोर तपस्वी था पर उसकी तपः प्राप्त शक्ति अनर्थ की ओर लगी। पुराने साहित्य मे महिष क्रोध का प्रतीक माना जाता है।[1] काम या क्रोध जैसी प्रवृत्ति बड़े से बड़े साधक को तपोभ्रष्ट कर देती है। अस्तु; देवगण महिष से लड़ चुके थे, इन्द्र, विष्णु, रुद्र सभी अपने अपने बल की परीक्षा कर चुके थे पर हार गये थे। जब तक अपने बल का अभिमान था किसी से कुछ न

---

१. नीचे का श्लोक कुछ प्रतीकों की सूची देता है : यह किसी तंत्र ग्रंथ में आया है :

आजै र्मेषैश्च मार्जारैः नारैरौष्ट्रैश्च माहिषैः।

पलैरेभि र्यजेद्यस्तु, स मुक्तो नात्र संशयः॥

'बकरे, भेड़, बिल्ली, मनुष्य, ऊँट और भैंसे के मांस से यज्ञ करने वाला मुक्त होता है।' यहाँ इन पशुओं के मांसों से क्रमशः काम, मोह, लोभ, अभिमान, मत्सर और क्रोध की प्रवृत्तियो से तात्पर्य्य है। इन मासो से यज्ञ करने का अर्थ है इन प्रवृत्तियों को संयम की आग में भस्म कर देना।

करते थना। हार के वाद जब दुर्गति हुई तब गर्व चूर्ण हुआ। गुरु की शरण मे गये, सद्बुद्धि आयी और उनके सम्मिलित प्रयत्न ने महिष का हराया। वही तेज जो पहिले निष्फल हो चुके थे जब सचमुच मिले तो उनकी विजय हुई।

कथा का रहस्य यही समाप्त नहीं होता। मनोविज्ञान की दृष्टि से भी, विचार करना चाहिए। देव और असुर एक दूसरे के भाई है, एक ही पिता की सन्तान है। चित्त की सत्प्रवृत्तिया देव हैं और असत्प्रवृत्तिया असुर है। चित्त की दोना ही सन्तान हैं। कभी दुष्प्रवृत्तिया प्रबल हो उठती हैं और सत्प्रवृत्तिया को दबा लेती ह। जिन लोगा को अपने धर्मात्मा होने का अभिमान होता है वह भी धोखा खा जाते हैं। पापमूलक प्रवृत्तियाँ उनको दुर्गति मे डाल देती हैं। ठोकर खाकर जब अभिमान गलित होना है तब पराशक्ति को पुकारते हैं, दुष्प्रवत्तिया का दमन होता है, फिर चित्त स्वस्थ होता है और देवों की विजय हाती है। परन्तु दुष्प्रवृत्तियो का क्या होना है ?

उनकी बुराई चली जाती है परन्तु रूप बदल कर उनमे निहित बौद्धिक शक्ति अच्छे कामो मे लगती है। दुष्प्रवृत्ति सत्प्रवृत्ति बन जाती है, असुर देव बन जाते हैं। क्रोध विनाशकारी होता है परन्तु यदि अन्याय, अधर्म्म उसका लक्ष्य बन जाय तो वह कल्याणकारी हो सकता है। इसी प्रकार काम-वासना ऊँचे साहित्य का प्रेरक बन सकती है। आधुनिक मनोविज्ञान इस प्रक्रिया को उन्नयन कहता है।

चित्त मे कृपा रखते हुए समर मे निष्ठुरता—यह उस निष्काम कर्म्म का स्वरूप है जिसकी शिक्षा श्रीकृष्ण ने गीता मे दी है। पाप से घृणा करते हुए भी पापी पर दया, आततायी के सच्चे हित का ध्यान रखते हुए भी उसका विरोध कर ना ताकि जगत् के साथ उसका भी कल्याण हा, कर्म्मयोगी का यही मार्ग है।

ज्यो ज्यो पुराणो मे कलियुग के निकट आते-जाते हैं, त्यो त्यो असुरो की जगह राक्षसो की चर्चा आती जाती है। राक्षस प्राय मनुष्यरूपधारी होते थे।

ऐसा लगता है कि इन सब युद्धो के वर्णनो के पीछे ऐतिहासिक घटनाओ की चर्चा है। अपने शत्रुओं को असुर या राक्षस कह दिया गया हो परन्तु सम्भवत

आर्य्य लोगों को किन्हीं प्रबल शत्रुओं से लड़ना पड़ा होगा। कुछ लड़ाइयाँ सौ दो सौ वर्षों तक चली होंगी। हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, प्रह्लाद, बलि, विरोचन, यह इस देश का कोई शक्तिशाली राजवंश रहा होगा। इनको असुर या जो कुछ कहा जाय परन्तु इस कुल में कई ख्यातनामा तपस्वी और पराक्रमी योद्धा हुए हैं। इसी प्रकार राक्षस वंश में भी जहाँ विभीषण जैसे पतित जीव हुए हैं वहाँ रावण जैसे महापंडित और वीरों ने भी जन्म लिया था। कलियुग में न असुर हैं न राक्षस। कंस, जरासंध, दुर्योधन—जिन लोगों की निन्दा की गयी है वह सभी मनुष्य थे।

पौराणिक साहित्य पर चाहे जो दोष लगाये जायँ, और दोष लगाना अनुचित न होगा, पर वह बहुत ही मूल्यवान् वस्तु है। उसने हमारे देश और समाज के सहस्र वर्षों की परम्पराओं को सुरक्षित रक्खा है। वैदिक काल की बहुत-सी बातें पुराणों के प्रकाश में ही समझ में आ सकती हैं। जहाँ वेद में एक या दो पंक्तियाँ हैं वहाँ पुराणों में कई-कई पृष्ठ मिलते हैं। यह सब कहानियाँ पुराणकारों ने गढ़ ली हों, ऐसा भी नहीं है। सैकड़ों वर्ष पुरानी घटनाओं को जनता ऐतिहासिक रूप से नहीं जानती। इतिहास भूल जाता है। कुछ घटनाओं की विकृत स्मृति रह जाती है, नयी बातें जुड़ जाती हैं। हमारे सामने राजा भोज और विक्रमादित्य के सम्बन्ध में जो कुछ सुनने में आता है उसमें कितना ऐतिहासिक तथ्य है? पुराणकारों को बहुत अवसरों पर ऐसी ही लोक में प्रचलित अनुश्रुतियों का सहारा लेना पड़ा होगा। छानबीन करने का कोई साधन नहीं था। यदि उन कहानियों को लिख न लेते तो प्राचीन काल का इतिहास शून्यवत् रह जाता। भला कुछ व्यक्तियों के नाम तो रह गये हैं।

पुराणों ने हमारे सामने स्त्रियों और पुरुषों के कई स्मर्तव्य चित्र रखे हैं। राम, कृष्ण, परशुराम, भीष्म, अर्जुन, कर्ण, सीता, सती, सावित्री, विश्वामित्र को आर्य्य जाति कब भुला सकती है? इनके चरित्र दूर हो जायँ तो भारत का अपनापन ही खो जायगा। पितृ भक्ति, मातृ भक्ति, दाम्पत्य प्रेम, त्याग, आत्मबलि के अद्भुत और रोमांचकारी आदर्श मनुष्य जाति के सामने रखे गये हैं। भगवान् के प्रति श्रद्धा और आत्मसमर्पण के अद्वितीय उदाहरण उपस्थित किये गये हैं। वैदिक उपासना शैली में एक कमी प्रतीत होती है, उसमें कोमल

भावनाओ के लिए कम स्थान है। पुराणो ने वह कमी दूर कर दी है। उन्होने मस्तिष्क के साथ हृदय को जगह दिया है और उपास्य के साथ प्रेम, स्नेह, अपनापन, करना सिखाया है।

मेरे इस लिखने का यह तात्पर्य नही है कि वेदो मे शुष्क दर्शन और कर्मकाण्ड या कोरी तपस्या की चर्चा है, भावनाओ के लिए स्थान नही है। यह धारणा भ्रान्त होगी। जैसा कि हमने पहिले कहा है, देवगण पुरा कल्प के वह तपोनिधि है जो जीवो के कल्याण के लिए अपने समाधि सुख को छोड कर सूक्ष्म शरीर धारण करते हैं। वह बडे भाई की भाँति हाथ पकडकर धर्म मार्ग पर ले चलते हैं। भर्त्सना करते हैं, दड देते है, पुचकारते है, पुरस्कार देते है, पर भले के लिए। सहायता उसी को दी जा सकती है जो सहायता लेना चाहे। जो हठ से देवो के अनुशासन का बराबर लघन करता रहता है वह अपनी क्षति तो करता ही है, दूसरो की भी हानि करता है। जो सहायता के लिए स्वय हाथ बढाता है वह देवकार्य्य को आगे बढाता है और साहाय्य पाता है। विश्वास, निष्ठा, स्नेह, वह भावनाए हैं जो देवो को अपनी ओर प्रवृत्त करती हैं। ऐसी भावनाए कई मत्रो मे व्यक्त होती हैं।

साधक कहता है त्व पितासि न (१, ३१, १०)। 'तुम हमारे पिता हो।' पितेव न शृणुहि हूयमान।(१, १०४, ९), 'हमारे पुकारने पर, हमारी बात पिता की भाँति सुनो।'

त्व हि न पिता वसो त्व माता शतक्रतो बभूविथ। ८, ९८, ११।

'तुम ही हमारे पिता, तुम ही माता हो।'

इस मत्र मे शतक्रतु अर्थात् इन्द्र को सम्बोधित किया गया है। इसकी ही छाया उस श्लोक मे देख पडती है जो आजकल बहुत प्रचलित है

त्वमेव माता च पिता त्वमेव,
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।

त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव,
त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥

यह वन्धु और सखा भाव भी कई जगह व्यक्त हुआ है :

शुचिस्त्वमसि प्रियो न मित्रः ।९,८८, ९ ८ ।

'तुम पवित्र, निष्काम, निः स्वार्थ, मित्र की भांति प्रिय हो ।' जिस कान्त भाव की अभिव्यक्ति मीरा के पदों में मिलती है उसको रूप भी वेद में है :—

पतिं न पत्नीः उशतीरुशन्तं,
स्पृशन्ति त्वा शवसावन् मनीषा । १, १६२, ११ ।

'हे इन्द्र, मेरे विचार तुमको इस प्रकार स्पर्श करते हैं जिस प्रकार प्रेम करने वाली पत्नियाँ अपने प्रेम करने वाले पति को स्पर्श करती हैं ।'

चैतन्य महाप्रभु ने ईश्वर को स्त्री और उपासक को पुरुष रूप में देखा था । इसकी भी झलक मिलती है :

मर्यो न योषामभि मन्यमानः । ४, २०, ५ ।

'मैं तुमको प्राप्त करके वैसा ही फूला नहीं समाता जैसा कि कोई युवा अपनी अभीप्सित युवती को पाकर होता है ।' सूरदास जी जैसे महात्मा अपने भगवान् के साथ सख्यभाव वरतते है, रूठ जाते हैं, उलाहना देते हैं, उसका भी उदाहरण देखिए :

यदग्ने स्यामहं त्वं, त्वं वा स्याऽहम् ।
सुष्टे सत्या इहाशिषः ॥ ८, ४४, २३ ।

'हे अग्नि, यदि मैं तुम्हारी जगह होता और तुम मेरी जगह होते, तो मे तुम्हारी प्रार्थनाएं स्वीकार कर चुका होता ।'

उपासक की पुकार व्यर्थ नही जाती। वह चिढ़कर भी बात करे तब भी देवगण उसके हृदय को पहिचानते हैं, इसीलिए उनको सुहव—जल्दी पुकार सुनने वाले—कहा गया है। इसीलिए जब उनसे यह माँग की जाती है

देहि नु मे यन्मेऽदत्तोऽसि,

'जो कुछ तुमने मुझे अभी नही दिया है, वह तो दो।' वह कहते है

समानो बन्धु युज्यो मे सत्प्रपद सखासि

'हाँ, हम दोनो बन्धु है हम तुम एक ही पथ पर साथ साथ चलने वाले सखा हैं।' यह साथ चलनेवाली बात महत्व की है। देवगण जीव को अपनी ही भांति धर्ममार्ग पर ले चलना चाहते है। इस सम्बन्ध मे इन्द्र की उक्ति भी स्पष्ट है

मा हवन्ते पितर न जन्तवो,
अह दाशुषे विभजामि भोजनम्। १०, ४८, १।

'सब जन्तु मुझे पिता की भाँति पुकारते हैं। मैं 'दाशुषो' मे भोज्य सामग्री को बाँटता हूँ।'

दाशुष का अर्थ है देने वाला। जो दीन-दुखियो की सहायता नही करता परन्तु अपने लिए सब कुछ चाहता है उसकी याचना स्वीकार नही हो सकती। जो धर्म पथ पर चलता है, दूसरो को देता है, देवगण उसकी ही सहायता करते है।

या तो श्रद्धा से माँगनेवाले को सभी कुछ मिलता है परन्तु देवो का मुख्य दान तो ज्ञान दान है। मनुष्यो को कई विद्याएँ देवो से प्राप्त हुई है। रुद्र को ईशान सर्व विद्यानामीश्वर सर्व भूतानाम्—सब विद्याओ का स्वामी और सब प्राणियो का ईश्वर कहा गया है। वैद्यक शास्त्र के आचार्य इन्द्र थे। परन्तु सब से मूल्यवान ज्ञान तो वह है जिसका सम्बन्ध धर्म और मार्ग से है। अधिकारी

को वह भी देवगण सहर्ष प्रदान करते हैं। इन्द्र से इस प्रकार का उत्कृष्ट ज्ञान पाकर, एक ऋषि कहता है :

> अहमिद्धि पितुः परिमेधाम् ऋतस्य जग्रभ ।
> अहं सूर्य्य इवाजनि ॥

'मैंने पिता से ऋत का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया है। मैं सूर्य्य के समान देदीप्यमान हूँ।' †

फिर भी यह ठीक है कि स्वर्गलोक और मर्त्यलोक के बीच पुल बांधने का पुराणो मे प्रशंसनीय प्रयत्न हुआ है और वह प्रयत्न सफल भी हुआ है। उन्होने एक प्रकार से स्वर्ग को पृथिवी पर उतारा है।

इस पौराणिक काल में देव परिवार मे तो जो उथल-पुथल हुए वह हुए, परन्तु मनुष्य का स्तर बहुत ऊँचा उठा। राजनीतिक और आर्थिक अवस्था अनुकूल थी। देश स्वतन्त्र और शक्तिशाली था, शासन की ओर से वैयक्तिक और सामाजिक जीवन मे बहुत कम हस्तक्षेप होता था, व्यापार और व्यवसाय उन्नतिशील थे, लोग सम्पन्न थे। साहित्य, संगीत और दूसरी कलाओं का चर्चा था। मनुष्य, और उस पर भी भारतीय, होना गर्व की बात थी। बुद्ध और तीर्थंकर मनुष्य थे। राम, कृष्ण मनुष्य थे। मनुष्य होते हुए इन महाभागों ने वह पद पाया था कि देवगण भी इनके सामने सिर झुकाते थे। इस विषय की बहुत सी आख्यायिकाएँ थीं। इनके प्रसाद से मनुष्य योनि धन्य हो गई थी। पुराणो मे मनुष्य की महत्ता दिखाने वाली कई कथाएँ हैं। उनमे से उदाहरणार्थ एक देता हूँ।

च्यवन मुनि का विवाह राजपुत्री सुकन्या से हुआ था। वह अन्धे हो गये थे। एक बार उनके आश्रम पर अश्विनी कुमार आये। यह दोनो भाई वैदिक वाङ्मय मे अपनी परोपकार वृत्ति के लिए प्रसिद्ध है। हर प्रकार के भूले-भटकों

---

† वेदान्त केसरी में डा० राघवन के एक लेख पर आधारित

और विपत्तों की सहायता करते रहते है। पौराणिक काल मे अन्य वैदिक देवो की भाँति यह भी नीचे गिरा दिये गये। देव लोक के वैद्य मात्र रह गये। अस्तु, इन्होंने च्यवन को अच्छा कर दिया। उन्होंने पारिश्रमिक रूप में कुछ देना चाहा। पहिले तो इन्होने नही लिया फिर उनके बहुत आग्रह करने पर यह मागा कि अब हमको पुराकाल की भाँति यज्ञ भाग नही मिलता, फिर से मिलने का प्रबन्ध कर दीजिए। च्यवन ने वचन दिया। कुछ दिनो के बाद उनके श्वशुर ने महायज्ञ का अनुष्ठान किया। च्यवन उसमे पुरोहित हुए। देवगण अपना भाग लेने के लिए प्रत्यक्ष उपस्थित हुए। अश्विनी कुमारो को भीतर आने का तो साहस नहीं हुआ, बाहर खडे रहे। देवो को यथाक्रम भाग देकर च्यवन ने अश्विनी कुमारो के लिए मत्र पढा। इन्द्र ने इस पर आपत्ति की कि उन लोगो का हमारे बराबर स्थान नही मिल सकता। च्यवन न न माना तो इन्द्र ने उनको मारने के लिए वज्र उठाया। च्यवन ने मत्र पढकर अग्नि मे हवि डाली। उसमे से एक भीमकाय दैत्य निकल कर इन्द्र की ओर बढा। उधर इन्द्र का वज्रधर हाथ स्तब्ध हो गया। डरकर उन्होने दूसरे देवो से सहायता माँगी। विष्णु आदि सब ने कह दिया कि हम कुछ नही कर सकते। तुम्हारा त्राण च्यवन ही कर सकते है। विवश होकर इन्द्र को च्यवन की शरण जाना पडा और क्षमा माँगनी पडी। च्यवन ने उनको अभयदान देकर उस अग्निजात दैत्य को नष्ट कर दिया और अश्विनी कुमारो को पुन यज्ञ भाग मिलने लगा।

ऐसा प्रतीत होता है कि किन्ही कारणो से अश्विनी का यज्ञभाग मिलना बद हो गया था। च्यवन के प्रयत्न से फिर पूर्ववत मिलने लगा। परन्तु यह तो गौण बात है। प्रधान बात तो यह है कि एक मनुष्य के सामने न केवल देवराज इन्द्र प्रत्युत विष्णु आदि त्रिदेव का भी वश नही चला। ऐसी कथाओ म ऐतिहासिक तथ्य जो भी हो, परन्तु इनसे मनुष्य की प्रतिष्ठा बढ़ती है और उसका आत्म विश्वास बढता है। ऐसी कई कथाएँ हैं जिनमे कहा गया है कि देवासुर सग्राम मे देवो की सहायता करने के लिए अमुक राजा बुलाकर गये। इस प्रसग मे दशरथ, दुष्यन्त, मुचकुन्द के नाम लिए जाते हैं। कई बार ऐसा हो गया है कि अमुक के तप स देवासुर घबरा उठे। अब मनुष्य की यह गर्वोक्ति सच हो रही थी

मनुष्य कुरुते यत्तु, तन्न शक्य सुरासुरैः ।

इस काल में देवों के सम्बन्ध में कई सुन्दर कल्पनाओं का उदय हुआ। इनमें कुछ तो कवियों की कृतियाँ हैं। इनके पीछे दार्शनिक सिद्धान्त और शास्त्रीय ज्ञान के साथ-साथ कवि का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण काम कर रहा है, कुछ मे उसकी व्यापक सहानुभूति अपनी छटा दिखला रही है और कुछ में वह तात्कालिक अतीन्द्रिय अनुभूति व्यक्त हो रही है जो कवि को योगी के अतीन्द्रिय अनुभव क्षेत्र का निवासी सिद्ध करती है। ऐसी भी कल्पनाएँ हैं जिनका उदय लोकबुद्धि मे हुआ हैं। इनमें स्यात् सबसे सुन्दर कल्पना शिव-पार्वती की है। लोकबुद्धि शिव के रुद्र रूप को याद नही करती। उसने शिव का स्वयं एक चित्र बना लिया है। गाँव की चौपाल मे बैठिए, या घर के भीतर वृद्धा नाती-पोतो को कहानी सुना रही हो, वही चित्र देखने को मिलेगा। शिव-पार्वती नरवेप में घूमते रहते है और दीन-दुखियो की सहायता करते रहते है। उनके कृपा पात्र साधु, महात्मा ही होते हों ऐसी बात नही हैं। जो उनके दरबार में पहुँच जाय, जिसकी पुकार कान मे पड़ जाय, उसकी सुनी जायगी, चाहे वह कैसा भी हो। बड़ी और छोटी, सभी बातो मे समान रूप से अभिरुचि लेते है। जिस चाव से देवो की समस्याये सुलझायी जाती हैं उसी प्रकार पति-पत्नी की पंचायत की जाती है। इनमे से बहुत-सी कहानियों मे ग्रामीणो की सहज हास्य प्रवृत्ति फूट पड़ती है। तुलसीदास जी ने शंकर के इस रूप का विनय पत्रिका मे बहुत अच्छा वर्णन किया है :

बावरो रावरो नाह, भवानी,
दानी बड़ो दिन देत दिए बिनु बेद बड़ाई भानी।

निज घर की वर बात बिलोकहु, हौ तुम परम सयानी॥
जिनके भाल लिखी नहिं मेरी, सुख की नेकु निसानी।

तिन रंकन को नाक संवारत, हो आयों नकवानी॥
दुखी दीनता दुखियन के दुख याचकता अकुलानी।

यह सम्पदा सौंपिये औरहिं, भीख भली मै जानी॥
विनय सनेह विनोद व्यंगयुत, सुनि विधि की बरबानी।
तुलसी मुदित महेस मनहिं मन जगतमातु मुसकानी॥

विद्वानों के सामने एक समस्या थी। देव-देवियो की बहुनायन थी परन्तु वह यह नही चाहते थे कि लोग जगत् के निमित्तोपादानकारण पराशक्ति-युक्त परमात्मा को भूल जाय। इस सूक्ष्म तत्व को भी स्थूल साँचे मे ढालना था और उस काल की परम्परा के अनुसार मानवाकृति मे उतारना था। इसके लिए उन्होने लक्ष्मी-नारायण युगल मूर्ति की कल्पना की। लक्ष्मी और नारायण एक दूसरे से कभी पृथक् नही होते, अच्छेद्य और अच्छिन्न है। विष्णु वेद मे व्याप्त हैं ही, लक्ष्मी मूल सहिता मे नही तो ऋग्वेद के खिल सूक्त मे विद्यमान हैं। वहाँ उनको हिरण्यवर्णा, अनपगामिनी आदि विशेषण दिये गये है। क्षीर सागर शुद्ध सत्व गुण का प्रतीक है, उसमे शेष शय्या पर विष्णु सोये रहते ह। पर इस चित्र म एक दोष है। लक्ष्मी की विष्णु से पृथक् सत्ता है और वह विष्णु के अधीन है। बहुधा तो वह विष्णु के पाव दबाती दिखलायी जाती ह, कहीं-कहीं पखा झल रही होती है। दोना ही अवस्थाआ में पृथक् हैं और परिचारिका या दासी न सही परन्तु किसी न किसी प्रकार सेविका तो है ही। पत्नी का पद पति से तो छोटा माना ही जाता है।

यह कमी खटकने वाली है। इस उद्देश्य से जो दूसरा चित्र बनाया गया है वह अद्भुत है। मेरी जानकारी मे विश्व वाङ्मय से इस विषय की इतनी सुन्दर कल्पना नहीं है। मेरा तात्पर्य अर्द्धनारीश्वर विग्रह से है। आधा शरीर पुरुष, आधा स्त्री का, आधे मे महेश्वर, आधे मे उमा। दोनो पृथक् हो ही नही सकते क्योकि अलग होकर प्रत्येक आधा, अपूर्ण, निर्जीव है। एक ही शरीर के दो आधे हैं, इसलिए उनमे बडे छोटे का प्रश्न नही उठता। कालिदास ने रघुवश मे शिव पार्वती को वागर्थाविव सम्पृक्तौ, वाणी और अर्थ के समान मिले हुए, कहा हैं। यह मूर्ति उसी भाव की प्रतिकृति है। परमात्मा और पराशक्ति का सम्बन्ध तो ऐसा है कि उपनिषद् के शब्दो मे, वहाँ से 'वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह'—न बुद्धि की पहुँच होती है, न वाणी की, परन्तु यदि कवि या चित्रकार उसकी अभिव्यक्ति करना ही चाहे तो उसकी कल्पना की उडान इसस आगे नही जा सकती।

दो शब्द ईश्वर के सम्बन्ध म भी कहना आवश्यक है। मन्त्रा की मीमासा करके यह दिखलाया जा सकता है कि उनमे से कई ईश्वरपरक है परन्तु ईश्वर

या परमात्मा की ओर प्रत्यक्ष संकेत कम ही है। ईश्वर शब्द जहाँ आया है, वहाँ रुद्र के लिए आया है। यज्ञों के प्रसंग मे ईश्वर की चर्चा करने की विशेष आवश्यकता भी नही है। परन्तु इसका यह तात्पर्य्य नही है कि उल्लेख है ही नही :

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय ॥

। यजुः ३१, १८ ।

'मैं तम के पार रहने वाले तेजोमय इस महान् पुरुष को जानता हूँ। उसको जानकर ही मनुष्य मृत्यु के पार जाता है। सद् गति के लिए दूसरा मार्ग नही है।'

योऽस्याध्यक्ष परमे व्योमन् । ।१०, १२९, ४ ।

'इस जगत् का अध्यक्ष जो परम व्योम मे रहता है :'

यो भूतं च भव्यं च, सर्वं यश्चाधितिष्ठति ।
स्व यस्य च केवलं, तस्मै श्रेष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥

'जो भूत भविष्य और वर्तमान तीनो कालों का स्वामी है, जो केवल आनन्द स्वरूप है, उस ज्येष्ट ब्रह्म को प्रणाम है।'

उसके सम्बन्ध मे कहा है :

य आत्मदा बलदा, यस्य विश्व उपासते, प्रशिषं यस्य देवा,
यस्यच्छायामृतं यस्य मृत्युः..... । १०, १२१, २ ।

'जो आत्मा अर्थात् ज्ञान विज्ञान देने वाला है, जो बल देता है, सारा विश्व जिसकी उपासना करता है, देवगण जिसकी आज्ञा मे रहते है, अमृतत्व अर्थात् देवपद और मृत्यु जिसकी छाया है।'

परमात्मा स्वय कहता है

अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्व देवेभ्यो अमृतस्य नाभि ।
यो मा ददाति स इदेव मावदहमन्नमन्नमदन्तमद्मि ॥

'मैं ऋत से भी पहिले से हूँ, देवो से पूर्व हूँ, अमृत की नाभि हूँ। जो मनुष्य मुझको देता है वह इस प्रकार रक्षा करता है, मैं अन्न हूँ, अन्न खाने वाले को खा जाता हूँ।'

जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, जगत् के पुनर्विकास, अर्थात् सकोच के बाद पुन आविर्भाव के पहिले ही ऋत और सत्य प्रकट होते ह। यह वह शाश्वत नियम है जो भौतिक और आध्यात्मिक जगत् का नियन्त्रण करते है। यहाँ अकेले ऋत का नाम लिया गया है परन्तु सत्य भी सकेत से आ गया ह। परमात्मा ऋत सत्य और देवा से भी पहिले से है, उन सबका साक्षी है। वह अमृत की नाभि है, स्रोत है, भडार है। अमृत वह पद है जो जीवन मरण से परे है। परमात्मा मोक्षस्वरूप ह। वह अन्न है अर्थात् ससार भर के भोज्य पदार्थ उसी के रूप है, अन्न, धन, स्त्री, पुत्र, पति, जो कुछ भी किसी दृष्टि से भोग की सामग्री है सब परमात्मा ह। जो दूसरो को देता है वह जगत् की रक्षा करता ह और साथ मे अपनी भी रक्षा करता है क्योकि वह परमात्मा के नियमो और योजनाओ की रक्षा करता है, दैवी व्यवस्था म सहायक होता ह। जीवन की सफलता का मार्ग त्याग है। जो भोग्य पदार्थों के पीछे दौडता रहता है, जो स्वार्थ के वशीभूत होकर भोग की कामना करता है, उसको दैवी दड का भागी होना पडता है और भोग ही उसे खा जाता है। इस एक मत्र म एक ओर परमात्मा की सर्वात्मकता और दूसरी ओर धार्मिक जीवन का स्वरूप प्रतिपादित है।

पौराणिक काल मे ईश्वर का साग्रह चर्चा करना बहुत आवश्यक हो गया, ईश्वर शब्द भी पूर्ण रूप से प्रचलित हो गया। यह अनिवार्य था। बौद्ध और जैन वेदो को तो नही ही मानते थे, परमात्मा की सत्ता को भी स्वीकार नहीं करते थे। इसलिए जब समय ने पलटा खाया तो वेदो की महत्ता के साथ-साथ

ईश्वर सत्ता पर भी भरपूर जोर दिया गया। एक और बात थी। इस बात का डर था कि देव देवियों के बाहुल्य के कारण कहीं यह बात भूल न जाय कि सब कुछ उस एक ही सत्ता का विकास और विस्तार है, नानात्व पर ध्यान लग जाने से अन्तर्वर्ती एकत्व विस्मृत न हो जाय। इसलिए भी बार-बार यह बात बतायी गयी है कि जगत् का मूल एक ही सत्ता है और, नाम चाहे जितने हों, उपासना चाहे जितने प्रकारों से की जाय, उपास्य एक ही है।

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिल नानापथजुषाम्,
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥
—पुष्पदन्ताचार्य्य कृत शिवमहिम्न स्तोत्र

'अपनी-अपनी रुचि के अनुसार मनुष्य टेढे सीधे अनेक मार्गों का अनुसरण करते हैं पर सब के लक्ष्य आप ही है, जैसे कि सीधे टेढ़े चलकर सब नदियों का जल समुद्र मे ही पहुँचता है।'

यह महान् सत्य है कि यह शिक्षा भारत के कोने कोने तक पहुँच गई है। आर्य्य धर्म्म के अनुयायी में सैकड़ों दोष हों परन्तु वह धर्म्म के नाम पर किसी से छेड़ छाड़ नहीं करता। वह मानता है कि सभी अपने-अपने ढंग पर उसी एक परमात्मा की ओर दृष्टि लगाये हुए है। 'सत्य विश्वमुपासते'—इसके लिए ध्रुव सत्य है, इसके लिए हम पुराणकारो के ऋणी हैं।

दसवाँ अध्याय

कुछ अवैदिक प्रवृत्तियाँ

अब तक जिन सम्प्रदायो या विचारधाराओ का चर्चा हुआ है उन सब का आधार वेद था। भले ही उन्होने व्यवहार मे ऐसी बातो का समर्थन किया हो जो वेद के अनुयाइयो को शोभा नहीं देती परन्तु कहना सबका यही था कि हमारे लिए वेद ही अन्तिम प्रमाण है। परन्तु पौराणिक काल मे कुछ ऐसे भी सम्प्रदाय निकले जिन्होने खुलकर वेद के प्रामाण्य को अस्वीकार कर दिया। पुराने शब्दो मे इनको नास्तिक कहना चाहिए परन्तु आजकल कुछ शब्दो के अर्थ कुछ के कुछ हो गये है। प्राचीन परिभाषा मे वेद को प्रमाण मानने वाला आस्तिक कहलाता था, न मानने वाला नास्तिक। ईश्वर को मानने वाला इस प्रसग मे कोई महत्त्व नही रखता था। ईश्वर को असिद्ध मानने वाले कपिल आस्तिक थे, ईश्वर को मानने वाले ईसाई और मुसलमान नास्तिक हुए। आजकल ईश्वरवादी आस्तिक कहलाने लगा है, न माननेवाला नास्तिक। वेद को प्रमाण मानने न मानने का महत्व चला गया।

बौद्ध और जैन धर्म तो अवैदिक थे ही, पहिले भी नास्तिक कहलाते थे, आजकल के प्रयोग मे भी नास्तिक ही कहलायेंगे। इनके अपने पृथक् प्रस्थान ग्रन्थ हैं। बौद्ध तो थोडे रह गये हैं, परन्तु जैनो की सख्या पर्याप्त है। यहाँ हम उनका इसलिए विस्तृत चर्चा नही करते कि यह दोनो धर्म पौराणिक काल से पहिले से चले आ रहे हैं।

इनसे भिन्न अवैदिक आम्नायो मे मुख्य स्थान तान्त्रिको का है। तन्त्र के

सम्बन्ध मे बहुत भ्रान्त विचार फैले हुए हैं। तंत्र ग्रन्थ संस्कृत में हैं, तांत्रिक बहुधा ऊपरी आचार मे वैदिको की भाँति रहते हैं, इसलिए कुछ लोग उनको भी वैदिक मानते है। यह जानते भी नही कि वह वेद को आधार नही मानते, न वैदिक उपासना शैली को ठीक समझते हैं। यदि सीधे खंडन न भी करें तो यह कह देंगे कि कलिकाल के लिए वेद अनुपयुक्त है।

दूसरी ओर वह लोग है जो तंत्र को भ्रष्ट और व्यर्थ बातो से भरा मानते हैं और तांत्रिको को लम्पट और दुराचारी मानते है। तंत्रों के सम्बन्ध मे पंडित-म्मन्य लोग क्या कह दिया करते है उसका एक उदाहरण लीजिए। यह वेरिडेल कीथ के संस्कृत साहित्य के इतिहास से लिया गया है जिसका हिन्दी अनुवाद डा० मगलदेव शास्त्री ने किया है·

"तंत्रो का कोई दार्शनिक महत्व नहीं है, परन्तु पारम्परिक मूढ़ विश्वासों के इतिहास के लिए उनकी विशेष रोचकता है। काम-वासना के तत्वो को रहस्यवाद अर्थात् ईश्वर या ब्रह्म के साथ जीवात्मा के ऐक्य के जामे का पहिनाना ही तंत्रों का साराश है।" यह अज्ञानमूलक पांडित्य का उज्ज्वल नमूना है। किसी अंग्रेज विद्वान ने ऐसा लिखा, इसमे बहुत आश्चर्य नही है परन्तु यह आश्चर्य और दु:ख का विषय अवश्य है कि अनुवाद करते समय संस्कृत के एक भारतीय विद्वान् ने इसको यथावत् मान लिया और इस पर एक टिप्पणी लिखने की भी आवश्यकता नहीं समझी।

तन्त्र हेय समझे जाते है इसके लिए कुछ तो तंत्र ग्रंथ और तथोक्त तान्त्रिकों के आचरण दोषी हैं। निश्चय ही कुछ तंत्र ग्रंथो मे ऐसी बातें लिखी हैं जो किसी भी सदाचारी मनुष्य को खिन्न कर सकती है। पूजा में पचमकार को जो स्थान दिया गया है वह चित्त को ग्राह्य नही प्रतीत होता, भैरवी चक्र आदि चित्त को कँपा देनेवाली क्रियाओ का चर्चा मिलता है जिनका अध्यात्म से सम्बन्ध समझ में नहीं आ सकता। यह कह देना पर्य्याप्त नही है कि यह सब बातें गम्भीर रहस्यों को अनधिकारियो से छिपाने के लिए कही गयी हैं। जिन ग्रन्थों को लोग पढेंगे, जिस आचरण को लोग देखेंगे, उसको ऐसा नही होना चाहिए कि उससे बुद्धि भेद हो और सामान्य जनता पर बुरा प्रभाव पड़े। ऐसा लगता है कि ऐसी

रचनाएँ उन लोगो ने की होगी जो स्वय तत्र के रहस्य को नहीं जानते थे और उसकी आड मे खेलना चाहते थे। उन्हान मद्य, मास, मैथुन का प्रलोभन देकर भोले लोगो को धोका दिया।

परन्तु तत्र ग्रथा मे यही सब नही है। बहुत गम्भीर दार्शनिक विचार हैं और योग की अनुभूतियो का ऐसा चर्चा है जिसे ऊँचा साधक ही कर सकता है और साधक ही समझ सकता है। देवताओ के उत्थापन के प्रयोग दिये गये हैं जिनका खडन इतना कह देने से नही हो सकता कि इनका चर्चा वेद मे नही मिलता। जब हम वेद का अर्थ ही भूल गये हैं तो यह भी तो नही कह सकते कि वेद मे क्या मिलता है, क्या नही मिलता। जो लोग तत्र को नि सार कहते हैं उनको चाहिए कि एक बार श्री शकराचार्य की आनन्द लहरी और अभिनव गुप्त के एकाध ग्रथ को देख डालें।

उत्तर भारत मे तत्र की तीन मुख्य धाराएँ रही हैं, वैष्णव, शैव और शाक्त। वैष्णव तान्त्रिक सम्प्रदाय का प्राय लोप हो गया है और वह अब प्राय पूर्णतया वैदिक हो गया है। वैष्णवो की परम आदरणीय पुस्तक श्रीमद्भागवत मे अब भी नारद पचरात्र नामक तत्र ग्रथ की छाया दिख पडती है। आरम्भ मे ही लिखा है कि व्यास जी ने वेद पढा-पढाया, वेद का विभाजन किया, वेदान्त सूत्रो की रचना की, परन्तु उनकी आत्मा को शान्ति न मिली। जब नारद जी ने आकर उनको विष्णु भक्ति की विशेष दीक्षा दी तब उनका चित्त स्वस्थ हुआ। यह स्पष्ट ही है कि वह उपदेश जो नारद जी ने दिया वेद बाह्य रहा होगा और वैदिक शिक्षा से ऊँचा होगा क्योकि वेद तो व्यास जी का स्वय मथा हुआ था।

तत्र शब्द को सुनते ही शाक्त तत्रो की ओर ध्यान जाता है क्योकि जो लोग तान्त्रिक नाम से प्रसिद्ध हैं उनमे अधिकतर शक्ति के ही उपासक हैं। शाक्त तान्त्रिको मे ही वह गर्हित क्रियायें देखी जाती हैं जो तत्र का अभेद्य अग मानी जाने लगी हैं। तान्त्रिक इनको छिपाते भी हैं। एक पुस्तक मे लिखा है कि इन बातो को उस प्रकार छिपाना चाहिए जिस प्रकार कोई स्त्री अपने शरीर के गोप्य अगो को छिपाती है स्वयोनिरिव—इस सम्बन्ध मे एक श्लोक बहुधा सुना जाता है।

अन्तः शाक्ता बहिः शैवाः, सभामध्ये च वैष्णवाः।
नाना रूपधरा कौला विचरन्ति महीतले ॥

'भीतर से शाक्त, बाहर से शैव, सभा मे वैष्णव, इस प्रकार कौल अर्थात् तान्त्रिक लोग नाना रूपों मे विचरण करते है।'

तांत्रिक उपासना शैली को प्रायः वाम मार्ग, बायां मार्ग, कहते हैं। इसके विरुद्ध शैली दक्षिण मार्ग, दाहिना मार्ग, कहलाती है। परन्तु तान्त्रिक शैली में भी दक्षिण मार्ग होता है। दक्षिण मार्गी तान्त्रिक मद्य मांस आदि को वर्ज्य मानता है। यहाँ मेरा उद्देश्य तंत्र के गुण दोष का विवेचन करना नहीं है। केवल इस वस्तुस्थिति को बताना है कि पौराणिक काल में अवैदिक तत्रो का भी अभ्युदय हुआ था और उनका समाज पर बहुत प्रभाव पड़ा था। पुराणो पर भी उनकी छाया पड़ी और कई तांत्रिक मंत्र पुराणो में समाविष्ट हो गये है। जैसा कि पहिले लिखा जा चुका है पराशक्ति के प्रचलित भागों मे से कई ऐसे हैं जो तत्र ग्रंथो से लिए हुए हैं। छिन्नमस्ता, धूमावती, बगलामुखी, वाराही, जयन्ती, यमघंटा, भद्रकाली जैसे नाम पहिले तंत्र वाङ्मय से ही सुनने को मिलते हैं। तंत्रमूलक कुछ उपनिषदें भी उपलब्ध होती हैं। निश्चय ही यह पीछे की रचनाएँ हं।

तंत्र बौद्ध धर्म्म में भी प्रविष्ट हुआ था। कुछ विद्वानो का मत है कि इसका उदय पहिले बौद्धो मे ही हुआ। महायान सम्प्रदाय जो नेपाल, तिब्बत, चीन और जापान मे फैला, तांत्रिक धारणाओ और क्रियाओं से ओत-प्रोत है। कई बौद्ध तत्र सस्कृत मे भी हैं। परन्तु इनमें से कइयों की भाषा बहुत ही टूटी-फूटी और अशुद्ध है। भारत और भारत के बाहर किस प्रकार बौद्ध तान्त्रिक उपासना फैली हुई थी उसकी झलक उस उपाख्यान से मिलती है जो प्रसिद्ध तंत्र ग्रन्थ रुद्रयामल में दिया हुआ है।

वशिष्ट बहुत बड़े विद्वान् और तपस्वी थे। वह वैदिक ऋषि भी थे। उन्होंने सभी वैदिक अनुष्ठान कर डाले थे और योगाभ्यासी भी थे। परन्तु उनके चित्त को शान्ति नही मिलती थी, आत्मा अतृप्त रहती थी। तब सत्य की खोज मे वह तिब्बत पहुँचे। वहाँ उनकी लामा नाम के महात्मा से भेंट हुई।

उनसे दीक्षा लेने के बाद उनका चित्त शान्त हुआ।

वैष्णव तंत्र भी तो अब पृथक् सत्ता प्राय नही रही, वैष्णव तान्त्रिक सम्प्रदाय अब वैदिक वैष्णवो मे लीन हो गया है। शैव और शाक्त अब भी पृथक् है। उत्तर भारत मे किसी समय कश्मीर शैव आगम का बड़ा केन्द्र था। दक्षिण भारत मे वीर शैव या लिंगायत लोग भी तान्त्रिक शैव हैं। शाक्त तंत्र के मुख्य प्रभाव क्षेत्र नेपाल और बगाल मे थे। प्रसिद्ध नाथ सम्प्रदाय भी जिसमे मत्स्येन्द्र, गोरक्ष और भर्तृहरि जैसे ख्यातनामा योगी हो गये हैं, सिद्धान्तत तंत्रमूलक हैं।

शैव और शाक्त तंत्रो मे थोड़ा बहुत भेद है परन्तु दोनो मे बहुत कुछ सादृश्य भी है। तंत्रो मे शुद्ध ब्रह्म और मायाशबल ब्रह्म का भेद नही है। जो वैदिक दर्शन के अनुसार मायाशबल ब्रह्म या परमात्मा है वह तान्त्रिक दर्शन मे परम शिव है। उनसे सर्वथा अभिन्न पराशक्ति है। परम शिव और पराशक्ति को प्रकाश और विमर्श भी कहते हैं। परम शिव अपने सकल्प से जगत् का सर्जन करते हैं और उनकी स्वतंत्र इच्छा से ही जगत् का तिरोभाव होता है। जीवों पर अनुग्रह करके ही वह जगत् की रचना करते हैं ताकि वह अपने कर्मफलो का उपभोग कर सकें। शिव 'एकमेवाद्वितीयम्' पदार्थ है इसलिए वस्तुत शिव और जीव मे अन्तर नही है।

'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' नाथ सम्प्रदाय का बहुत प्रामाणिक ग्रन्थ है। उसके रचयिता स्वय गोरक्षनाथ थे। उसके अनुसार परम शिव अपने को जिस प्रकार अभिव्यक्त करते हैं वह यह है

शिवाद् भैरवो, भैरवात् श्रीकण्ठ, श्रीकण्ठात् सदाशिव ।
सदाशिवात् ईश्वर , ईश्वरात् रुद्र ,रुद्रात् विष्णु , विष्णो ब्रह्मा।

'शिव से भैरव, भैरव से श्रीकण्ठ, श्रीकण्ठ से सदाशिव, सदाशिव से ईश्वर, ईश्वर से रुद्र, रुद्र से विष्णु, विष्णु से ब्रह्मा।'

यह शिव की अष्टमूर्ति है। इस समुच्चय को महासाकार पिण्ड कहते हैं।

आत्मेति परमात्मेति, जीवात्मेति विचारणे ।
त्रयाणामैक्य संभूतिः, आदेश इति कीर्तितः ॥

'आत्मा, परमात्मा और जीवात्मा के सम्बन्ध में विचार करने पर तीनों एक हैं, यही आदेश (सिद्धान्त मत) है।'

शिव शक्ति के अभेद के सम्बन्ध में वह कहते हैं :

शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः, शक्तेरभ्यन्तरे शिवः ।
अन्तरं नैव जानीयात्, चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥

'शिव के भीतर शक्ति है और शक्ति के भीतर शिव है। जिस प्रकार चन्द्रमा और चाँदनी मे भेद नही है, उसी प्रकार शिव और शक्ति मे अन्तर नहीं है।'

तत्र ग्रथों, विशेषतः शाक्त तंत्रो, मे सृष्टिक्रम का बड़े विस्तार से विवेचन किया गया है।

'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' मे तो यह क्रम इस प्रकार बताया गया है :

आद्यात् महाकाशः, महाकाशात् महावायुः, महावायोर्महातेजः, महातेजसो महासलिलम्, महासलिलात् महापृथिवी।

'आद्य पिण्ड (शिव) से महाकाश निकला, महाकाश से महावायु, महावायु से महातेज, महातेज से महासलिल, महासलिल से महापृथिवी।'

यह वर्णन तैत्तिरीय उपनिषत् के इस वाक्य से मिलता है :

एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी

'इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से अप, अप से पृथिवी।'

शाक्त तंत्रों में अधिक विस्तार देख पड़ता है। उनके मंतव्य को संक्षेप में इस प्रकार चित्रित किया जा सकता है
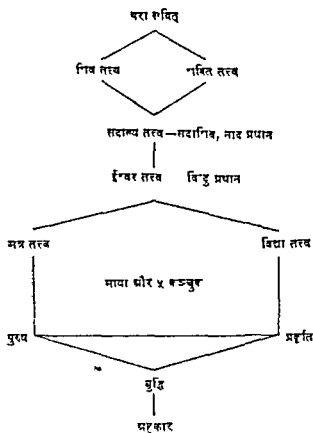
(इसके आगे सांख्यसम्मत क्रम से ५ महाभूत पर्यन्त)

काल, कला, नियति, राग और विद्या को पंच कंचुक कहते है। परासंवित् वह मूल पदार्थ है जिसका विलास यह जगत है। वही वेदान्त का ब्रह्म और शैवागम का परम शिव है। शिव और शक्ति उसके दो रूप हैं। सदाशिव और ईश्वर मे यह अन्तर है कि सदाशिव मे नाद, अह तत्त्व, की प्रधानता है और ईश्वर मे विन्दु, अनहम् तत्त्व, की।

वैदिक विचारधारा से इस विकास-वृक्ष की कहाँ तक सगति होती है यह रोचक विषय है परन्तु यहाँ उस विस्तार मे जाने का अवकाश नही है।

तान्त्रिक उपासना पद्धति भी गम्भीरता से विचार करने का विषय है। उत्तम साधक के लिए तो एक ही मार्ग है : योगाभ्यास। योग का तंत्र ग्रन्थो मे बहुत चर्चा है। जिस क्रम से जीव बन्धन मे पड़ा है उसके उलटे क्रम से चलकर ही उसको मोक्ष प्राप्त होगा। कहा जाता है कि मेरुदण्ड के निम्नतम भाग मे पराशक्ति साढे तीन लपेटे लगाये हुए नागिन के रूप मे सुषुप्त है। उसे वहाँ कुण्डलिनी कहते हैं। वही परावाक् है। योगी अपने अभ्यास के बल से उसे जगाता है। नागिन धीरे-धीरे ऊपर को उठती है और अन्त मे मस्तिष्क के ऊर्ध्व भाग मे स्थित सहस्रार नामक स्थान पर पहुँचती है। नाड़िजाल जो आधार चक्र, मेरुदण्ड के सबसे निचले भाग, से आरम्भ हुआ था यहाँ समाप्त हो जाता है। अब प्राणों को कही आना-जाना नही है। यहाँ पहुँच कर योगी को जो अनुभूति होती है उसे शिव और शक्ति का मिलन कहते है। यही मोक्ष पद है।

परन्तु प्रत्येक व्यक्ति इसका अधिकारी नही होता। इस साधन के लिए पूर्ण वैराग्य चाहिए और यम, नियम आदि का कड़ाई से पालन होना चाहिए। साधक को मद्य, मांसादि छोड़ देना होगा। यह सब लोग नही कर सकते। जन साधारण के लिए तन्त्र के आचार्य्य एक प्रकार के मध्यम मार्ग का उपदेश देते है। जिस प्रकार वेदो मे सहज प्रवृत्तियों पर अकुश लगाया जाता है पर इसके साथ ही धन, सम्पत्ति, वैभव, सन्तति की इच्छा, को नितान्त निंद्य न कहकर उसकी पूर्ति का भी विधान है, वैसे ही तंत्र के आचार्य्य भी करते हैं। वह कहते है कि हम सामान्य साधक को भी मोक्ष की ओर धीरे-धीरे ले चलते हैं पर उस पर इतना बोझ नही डाल देते कि उठ ही न सके। पुत्र, वित्त और लोक की

एषणाओ की तृप्ति भी सयत ढग से कराते चलते हैं। हमारा मार्ग मुक्ति और भुक्ति दोनो को निबाहना है। यह श्रद्धा और अनुभव की बात है कि यह कथन कहाँ तक सत्य है। यह भी परीक्षा का विषय है कि कहाँ तक तान्त्रिक शैली वैदिक शैली की अपेक्षा फलदायक होती है।

तन्त्र ग्रन्था मे पराशक्ति के अनेक रूपा और नामो का चर्चा है। भगवती के परमधाम का भी, जहा उसका और परम शिव का नित्य विहार होता है, लाक्षणिक भाषा मे वर्णन है। मणिद्वीप मे सुन्दर सुगन्धित फूलो से सुशोभित उद्यान मे, जहाँ देवो का भी प्रवेश नही हो सकता, एक पञ्च प्रेतात्मक पलग बिछा हुआ है। चारा पाये चार प्रेत हैं, पलग का बीच का भाग पाँचवा प्रेत है। इन प्रेतो के नाम है, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईशान और सदाशिव। उस पलग पर त्रिपुरसुन्दरी महा भैरव, परमशिव, के साथ सोयी हुई है।

तन्त्र अवैदिक, वद बाह्य है, वह खुल कर ऐसा कहता है। ऐसी बातें करता है जो सुनने मे विचित्र-सी लगती हैं परन्तु जिन अनुभूतियो को वह अपना आधार मानता है वह वदवाह्य नही हैं। योग किसी की सम्पत्ति नही है। यह भी ध्यान मे रखना चाहिये कि देवताओ का चर्चा करके वेद पराशक्ति के भेदो की ओर ध्यान आकृष्ट करता है और कुछ सूक्तो मे तो विशेष रूप से शक्ति की महत्ता प्रतिपादित करता है। इस सम्बन्ध मे रात्रि सूक्त और वागम्भृणी सूक्त विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। परम वैदिक शकराचार्य ने शक्ति तत्व का बडा सुन्दर चित्र उत्कृष्ट कोटि की साहित्यिक भाषा मे आनन्दलहरी में खीचा है।

तन्त्र आज तो हमारे धार्म्मिक जीवन मे पूर्ण रूप से व्याप्त हो गया है। लोग देव-देवियो के मन्दिरो मे जाते हैं, घर पर कई प्रकार की इष्टियाँ और शान्तियाँ कराते हैं पर उनको इस बात का पता भी नही है कि वह किसी अवैदिक परम्परा का अनुगमन कर रहे हैं। सच तो यह है कि अपने को तान्त्रिक कहने वालों मे भी ऐसे व्यक्ति हैं जिनको यह ज्ञात नही है कि वह जिस शैली का अनुकरण कर रहे हैं वह वेदबाह्य है।

यह भ्रम तो किसी को नही रहना चाहिये कि बेरिडेल कीथ का यह

मूल्याकन यथार्थ है कि तंत्रों का कोई दार्शनिक महत्त्व नही है। आज बहुत से भारतीय विद्वान् यह मानने लगे है कि तंत्र केवल काम-वासना को तृप्त करने का साधन बतलाते है। इसमें सन्देह नही कि तंत्र मे ऐसी बातो का समावेश हो गया है जो सर्वथा अश्लील और जघन्य है। मन्द-से-मन्द अधिकारी को ऐसे मार्ग पर नही ले चलना चाहिये। परन्तु इसके साथ ऊँची कोटि का दार्शनिक विचार और योग की दीक्षा भी है। संयम के साथ भोग करना भी विहित है और कठोर वैराग्य का भी आदेश है। पक्षपात और रूढिगत विचारो ने हमारे आध्यात्मिक जीवन के इतिहास के इस अध्याय का अब तक यथार्थ अध्ययन नही होने दिया है। अब इधर ध्यान जाना चाहिये। वेदबाह्य होने से किसी वस्तु को विचार के अयोग्य नही ठहराया जा सकता।

मैंने आरम्भ मे ही कहा था कि बौद्ध और जैन धर्म्म पौराणिक काल के पहिले से चले आ रहे है, अत उनके सम्बन्ध मे कुछ न कहूँगा परन्तु प्रसग वशात् बौद्ध तत्र के विषय मे कुछ बातो की ओर ध्यान आकृष्ट करना अनुचित न होगा।

बौद्ध धर्म्मावलम्बी दो मुख्य सम्प्रदायो मे विभक्त है : महायान और हीनयान। हीनयान दक्षिण एशिया, लका, बर्मा, स्याम, मे प्रचलित है। उत्तर एशिया, तिब्बत, चीन, जापान, महायान के क्षेत्र में है। महायान सम्प्रदाय तान्त्रिक विचारो और पद्धतियो से ओतप्रोत है। उसको कई दृष्टियो से पुराणकालीन वैदिक धर्म्म और बौद्ध धर्म्म के बीच का पुल कह सकते हैं। बुद्धदेव के मूल उपदेशो को मानते हुए भी उसने कई ऐसी मान्यताओ को प्रश्रय दिया है जिनका धर्म्म पद या त्रिपिटक मे कही पता नही चलता।

मनुष्य जीवन का लक्ष्य, चरम पुरुषार्थ, निर्वाण है, ऐसा महायान भी मानता है परन्तु निर्वाण के स्वरूप के सम्बन्ध मे विभिन्न आचार्य्यो के मतो में भेद प्रतीत होता है। हीनयान के अनुसार निर्वाण का अर्थ है मिट जाना। अविद्या के कारण अपने अस्तित्व की, आत्मा की, भ्रान्ति हो रही है। इस भ्रान्ति के कारण जीव नाना लोको मे, अनेक शरीरो मे, घूमता रहता है। बोधि प्राप्त होने पर यह भ्रान्ति दूर हो जाती है, दीपक बुझ जाता है, आत्मा की कल्पित सत्ता उस 'कुछ नही' मे विलीन हो जाती है जिसमे से वह प्रादुर्भूत

हुई थी। महायान के आचार्य्य यह तो नही कहते कि बुद्धदेव के उपदेश का यह अर्थ नहीं था पर वह निर्वाण की अवस्था के दूसरे लक्षणो पर अधिक जोर देते हैं। वह कहते हैं कि निर्वाण प्राप्त होने पर पुनर्जन्म की निवृत्ति होती है। भव शृखला टूट जाती है, इच्छा, राग, द्वेष, और मोह दूर हो जाते हैं, निर्विकल्प ज्ञान होता है, शून्यता मे स्थिति होती है। परन्तु विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि इन सब अवस्थाओ मे अस्तित्व बना रहता है।

परमतत्त्व का धम्मकाय कहते हैं। यह अति सूक्ष्म सत्ता मात्र पदार्थ है। इस धम्मकाय की प्रथम अभिव्यक्ति आदिबुद्ध हैं। जब आदि बुद्धनामरूप युक्त होते है तो वही सम्भोगकाय कहलाते हैं। सम्भोगकाय सत्तामात्र नहीं है, वह आनन्दस्वरूप है। कुछ ऐसे महापुरुष होते ह जो पूर्णप्रज्ञा प्राप्त करके भी निर्वाणावस्था को ग्रहण नही करते। जीवो पर करुणा करके अपनी इच्छा से फिर शरीर ग्रहण करते हैं। ऐसे लोगो को बोधिसत्त्व कहते हैं। बोधिसत्त्व जिस शरीर को धारण करते हैं वह निर्माणकाय होता है। इस शरीर मे उनको बुद्ध कहते हैं। इस अतिम शरीर के छूटने पर निर्वाण प्राप्त करते ह। आध्यात्मिक उत्कर्ष, निर्वाण की पात्रता, के साधन हैं दान, वीर्य्य, शील (सदाचार) क्षान्ति, ध्यान प्रज्ञा। इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार की सिद्धियो की प्राप्ति के लिए बहुत से मत्र बतलाये गये हैं और कई देव-देवियो के ध्यान की विधियाँ बनायी गयी हैं। जैसा कि मैंने पहिले कहा है बौद्ध धम्म का सवतन्त्रसम्मत मुख्य ग्रथो में इन बातो का कही उल्लेख नही मिलता। महायान के पडितो का कहना है कि बुद्धदेव ने किन्ही विशिष्ट अधिकारियो को गुप्त रूप से यह बातें बतलायी थीं।

इस सक्षिप्त विवरण से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि महायान सम्प्रदाय वैदिक दर्शन से बहुत कुछ प्रभावित हुआ था। धम्मकाय की तुलना शुद्ध ब्रह्म से की जा सकती ह और आदिबुद्ध की परमात्मा से। निर्वाण के जो लक्षण बताये जाते हैं वह उन लक्षणो के समान हैं जिनकी चर्चा वेदान्त के आचार्य्य मोक्ष के स्वरूप का निरूपण करते समय करते है। शकराचार्य्य को कुछ लोग प्रच्छन्न बौद्ध कहते थे। यदि विचार किया जाय तो महायान प्रच्छन्न वेदान्त है।

किसी न किसी रूप मे यह वैदिक देवगण भी प्रविष्ट हो गये। या तो

महाब्रह्मा और इन्द्र का चर्चा बुद्धदेव के जीवन काल में भी होता था परन्तु अब यह चर्चा अधिक विशद हो गया। वेदों में भी इन्द्र शतमन्यु और वज्रपाणि कहे जाते है। उनके यह नाम बने रहे और वह त्रयस्त्रिंश लोक के अधिष्ठाता माने गये। मञ्जुश्री, अवलोकितेश्वर और विश्वपाद बोधिसत्वो के नाम है, परन्तु उनकी प्रशस्तियाँ बतलाती है कि उनकी आड़ में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र विराजमान है। आठ दिक्पाल भी विद्यमान है। गणेश को बहुत प्राधान्य मिला है। उनकी सौम्यमूर्तियाँ भी है परन्तु विनायक नाम के कई विग्रह तो बहुत ही वीभत्स और अश्लील है। महायान सम्प्रदाय की उपास्य सूची में तारा देवी का स्थान बड़े महत्त्व का है। जहाँ तक मुझे ज्ञान है अन्य उपास्यों को तो इन लोगों ने वैदिक देवसूची से लिया परन्तु तारा का परिचय हमको महायान वाङ्मय में ही सबसे पहिले मिलता है। पीछे से उनको उन तांत्रिको ने अपनाया जो बौद्ध नही थे। तत्पश्चात् वह देव परिवार मे जगह पा गयी और उन लोगो मे भी पूजनीया हो गयी जो तान्त्रिक नही है। नीलतारा भी तारा की ही भेद है।

जैनधर्म्म भी तंत्र के प्रभाव से पूर्णतया अछूता नहीं रह सका, परन्तु उसमें तांत्रिक विचारो का विशेष प्रसार नही हुआ।

तंत्र की महती अवैदिक प्रवृत्ति इस देश के आध्यात्मिक जीवन के इतिहास मे अपना विशेष स्थान रखती है। एक ओर तो तंत्र के द्वारा वैदिक दर्शन और उपासना शैलियो ने बौद्ध धर्म्म मे प्रवेश करके उसके कलेवर मे कई क्रान्तिकारी परिवर्तनो को प्रेरित किया, दूसरी ओर एक बार वेदमूलक विचारो और वैदिक उपासना शैलियो को अंशतः स्वीकार करके बौद्ध धर्म्म को वैदिक परम्पराओं को प्रभावित करने का अवसर मिला। पुराण काल के धार्म्मिक जीवन मे यह समन्वयकारिणी शक्तियाँ काम कर रही थी। बौद्ध धर्म्म भले ही भारत से चला गया हो परन्तु अपनी काफी निशानी छोड़ गया है, यहाँ तक कि लोक-व्यवहार से वेदमूलक और वेदवाह्य तत्त्वो को पृथक् करना कठिन हो गया है।

तृतीय खण्ड

पुराणोत्तर काल

ग्यारहवाँ अध्याय

वैदिक से हिन्दू

अब तक हम उन सिद्धान्तो और विश्वासो तथा क्रियाओ को जो वेद सम्मत हैं वैदिक कहते रहे हैं और उन लोगो के लिए भी इसी शब्द का व्यवहार करते रहे है जो वेदसम्मत मार्ग पर चलते हैं। ऐसी बहुत-सी बातें हैं जिनका वेद मे स्पष्ट उल्लेख नही है परन्तु यदि यह सिद्ध किया जा सके कि वह वेद विरुद्ध नही हैं तो अर्थापत्ति से उनको वैदिक मान लिया जा सकता है। इसी आधार पर मीमासा दर्शन मे होल्किाधिकरण म होली को वैदिक माना गया है। अब हम हिन्दू शब्द का प्रयोग करना चाहते हैं। यह शब्द ठीक-ठीक कब से चला और इसकी यथार्थ व्युत्पत्ति क्या है इस सम्बन्ध मे कई मत है। हमको उस शास्त्रार्थ मे पडने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु इतना तो प्रतीत होता है कि इसका चलन पौराणिक काल के बाद ही हुआ। पौराणिक युग के अन्त होते-होते हर्षवर्धन सम्राट् हुए, लगभग उसी समय अरब म इस्लाम का उदय हुआ। हर्षवर्धन के कुछ काल बाद से भारत पर विदेशी आक्रमणो का ताँता लग गया। शक और हूण तो आ ही चुके थे, अब अरब, पठान और मुगल आये। भारत के नये शासक इस्लाम धर्म के अनुयायी थे। वह लूटमार कर चले नही गये, यही बस गये। उनके सम्पर्क से वैदिक धर्म पर, जो, पौराणिक काल मे नया रूप धारण कर ही चुका था, बहुत प्रभाव पडा। उसका कलेवर और बदला। हिन्दू नाम चाहे विदेशियो का ही दिया हुआ हो परन्तु लोगो ने स्वय इसको स्वीकार कर लिया, अपने को हिन्दू कहने लगे। इसलिए आगे से इस शब्द का व्यवहार ही सुविधाजनक होगा। अब भी हिन्दू धर्म मे अन्तिम प्रमाण पद वेद को ही प्राप्त है, वही हिन्दुओ की सर्वमान्य धर्म पुस्तक है, परन्तु बहुत से हिन्दू

उसके नाम तक से परिचित नहीं है। ऐसे लोगों को वैदिक कहने में विशेष लाभ भी नहीं है, यद्यपि उनको वैदिक के सिवाय कुछ और कहा भी नहीं जा सकता। वस्तुतः हिन्दू शब्द का अर्थ वैदिक से अधिक व्यापक है। उसके अन्तर्गत हर प्रकार के वैदिक तो है ही, तांत्रिक और जैन तक परिगणित है। इसीलिए इसकी परिभाषा करना कठिन है। कभी-कभी ऐसा कहा जाता था कि जिन लोगों में सम्पत्ति का विभाजन स्मृतियों में दिये हुए दायभाग के अनुसार होता हो वह हिन्दू है परन्तु पश्चिम भारत के बोहरे मुसल्मान होते हुए भी हिन्दू दायभाग मानते हैं। व्यवहार में तो अब यह बात हो गयी है कि जो अपने को हिन्दू कहे वही हिन्दू है। यदि उसको और लोग भी हिन्दू कहते हों तो सोने में सुगन्ध आ गयी।

बारहवाँ अध्याय

परतंत्र भारत में हिन्दू धर्म

हर्षवर्धन अन्तिम हिन्दू सम्राट् हुए। जिस समय वह भारत में अपने राज्य का विस्तार कर रहे थे और चीनी यात्री ह्वेनसांग के साथ मिलकर बौद्ध धर्म की ग्रन्थियों को खोल रहे थे, उन्हीं दिनों अरब में मुहम्मद साहब इस्लाम की नींव रख रहे थे। हिंदू साम्राज्य भी गया और भारत से बौद्ध धर्म का भी लोप हो गया। परन्तु इस्लाम का बल दिन दूना रात चौगुना बढ़ता गया। उसके प्ररोह भारत तक पहुँचे और यहाँ भी इस्लाम का बटवृक्ष खड़ा हो गया।

सबसे पहिले सिन्ध पर अबू बिन कासिम का आक्रमण हुआ, फिर ऐसे आक्रमणों का ताँता लग गया। ईरान और अफगानिस्तान इस्लाम को स्वीकार कर चुके थे, मध्य एशिया पर इस्लामी ध्वजा फहरा रही थी। अतः भारत पर जिन लोगों ने अब आक्रमण किया वह केवल पठान और मुगल नहीं थे, एक नये धर्म के सन्देशवाहक थे। उस धर्म में हिन्दू धर्म की बहुत-सी मान्यताएँ अक्षम्य अपराधों में परिगणित थीं। भारत के नये आक्रामक लूटपाट करने या केवल शासन करने नहीं आये थे, वह लोगों को मुसलमान बना कर स्वर्ग का द्वार दिखलाने का उद्देश्य लेकर भी आये थे। भारत के पुराने आक्रामक असभ्य या अर्द्ध सभ्य थे। उन्होंने भारतीय संस्कृति को अपनाया। उनके वंशजों को यह स्मरण नहीं रहा कि उनके पूर्वज कभी बाहर से आये थे। नये आक्रामक अपनी संस्कृति विशेष लेकर आये थे, वेद की जगह कुरान साथ लाये थे। भले ही वह लोग भारत में बस गये पर उनके सामने यह आदर्श था कि एक दिन भारत को पूरी तरह दारुल इस्लाम (इसलामी देश) बनाना है। जब तक ऐसा नहीं होता,

जब तक हिन्दुओं में थोड़ी-सी भी संघर्ष की शक्ति रहती है, तब तक यह देश उनके लिए दारुल हरब—युद्ध का देश, था।

इस्लामी शासन को भारत में प्रधान स्थान पाते बहुत देर नही लगी। ऐसा क्यों हुआ, इस राजनीतिक प्रश्न पर विचार करना इस पुस्तक का विषय नही है। दक्षिण भारत प्रत्यक्ष इस्लामी प्रभाव और शासन से बहुत कुछ बच गया, परन्तु उत्तर भारत में सर्वत्र या तो विदेशी शासन था या ऐसा देशी शासन था जो विदेशी चगुल मे दबा हुआ था। इस देश मे बस कर बाहर से आने वालो ने अपना विदेशीपन खो दिया। यही देश उनका घर रह गया। अपने राज्य की रक्षा करने के लिए पठान और मुगल नरेश हिन्दू सिपाहियो से भी काम लेते थे। परन्तु भारतीय बनकर भी वह लोग कई बातों मे यहाँ के हिन्दू निवासियो से पृथक् थे। इसमे दोष किसी का रहा हो, वस्तु-स्थिति यही थी। समूचे उत्तर भारत मे एक भी स्वतत्र हिन्दू नरेश नही था। जो राजे महाराजे रह गये थे वह पठान और मुगल बादशाहो के अधीन थे। राजनीतिक दासता बड़ी बुरी चीज़ होती है। देश को स्वाधीन हुए अभी पन्द्रह वर्ष ही तो हुए है। हम दासता काल को भूले नही है। पठान और मुगल के बाद अग्रेज आये। हिन्दू पूर्ववत् दास ही रहा। दास इच्छाभिघात की जीती-जागती मूर्ति होता है। योग्यता होते हुए अपने को दबाना पड़ता है, अपने ऊँचे आशयो को नित्य छिपाना पडता है, छोटी छोटी सी बात पर कलेजा मसोस कर रह जाना पड़ता है। ऐसे लोगों के सामने सिर झुकाना पड़ता है जो विद्या, बुद्धि, पौरुष, किसी बात मे अपने बराबर नही होते। झूठ और चाटुकारिता ही उन्नति का साधन रह जाती है। अपने देश और देशवासियो का अहित करना विश्वसनीयता की कसौटी बन जाती है। मनुष्य के मनुष्यत्व का, उसके विवेक का, हनन हो जाता है। विदेशी शासन चरित्र के पतन का अचूक हेतु होता है।

हिन्दू की विपत्ति राजनीतिक दासता तक ही सीमित नही थी। वह धार्म्मिक असहिष्णुता का भी शिकार था। विदेशी आक्रामक स्वर्ग की कुजी लेकर आये थे और उनका विश्वास था कि स्वर्ग की एक ही कुंजी है। उनका धर्म्म सत्य है, उसके सिवाय और सभी धर्म्म मिथ्या है। मिथ्या को क्यों इस बात का अवसर दिया जाय कि वह लोगो की बुद्धि भ्रष्ट करे? उसको तो मिटा

देना ही श्रेयस्कर है। दुःख और आश्चर्य की बात तो यह है कि जो मुस्लिम शासक पीढ़ियों से भारतवासी थे उनमें से भी कुछ के चित्त में यह धार्मिक द्वेष भावना बनी हुई थी। हिन्दू आखिर मनुष्य था। सोमनाथ के खंडहरों की पुकार उसके कानों में जाती ही थी, मथुरा, अयोध्या, काशी के टूटे हुए मंदिरों पर दृष्टि पड़ती ही थी। पूजा पाठ में बाधा और गुला गो वध उसके चित्त को एक बार तो हिला ही देता था और स्त्रियों का अपहरण उसके हृदय की श्मशानवत् शांति को भी क्षुब्ध कर ही देता था। ये बातें नित्य नहीं होती थीं, परन्तु इनकी स्मृति मिटने नहीं पाती थी। पुराने आघातों को भूलते-भूलते नई चोट लग जाती थी। हर अकबर के बाद कोई औरंगजेब आ ही जाता था। यह सब होता था, पर हिंदू चुपचाप देखता रहता था। यदि उसकी कमर में तलवार थी भी तो वह मुस्लिम शासकों की ओर से ही उठती थी। आमेर (जयपुर) के प्रसिद्ध राजा मानसिंह के सम्बन्ध में उस काल के किसी मुस्लिम विद्वान् ने कहा था

हिंदू मी जनद शमशेरे इस्लाम

'इस्लाम की तलवार हिन्दू चला रहा है।'

ऐसी बातें भी तो चरित्र को गिराने वाली होती हैं। जो विदेशी शासन के पाँव के नीचे रौंदा जा रहा है, जो अपने धर्म्म को बचा नहीं सकता, जो अपने देवस्थानों को ध्वस्त और अपवित्र किये जाते देखता रहता है और घर की स्त्रियों की लज्जा जिसके हाथों में सुरक्षित नहीं है, वह नाममात्र का मनुष्य है, मनुष्य शरीर का कलंक है। ऐसे प्राणियों में सच्चा आध्यात्मिक जीवन कहाँ हो सकता था? प्रतिभा पर भी तुषारपात हो गया। शास्त्रीय क्षेत्र में प्रायः एक भी ऐसा नया ग्रंथ नहीं लिखा गया जिससे विद्या की उन्नति होती और जन साधारण का कल्याण होता। अधिकतर भाष्य और टीका ग्रंथ ही लिखे गये। कलात्मक प्रवृत्तियों का भी रूप वह नहीं रहा। हिंदू कलाकार और कारीगर उन इमारतों के बनाने में लगे जिनका सौन्दर्य आज भी चित्त को अपनी ओर खींचता है परन्तु स्फूर्ति का स्रोत बदल गया। मूर्तिकारी के लिए इस्लामी दरबार में अवकाश न था क्योंकि इस्लाम मनुष्य की आकृति बनाना निषिद्ध मानता है।

अन्तिम अनुच्छेद में कला के विषय में जो लिखा गया है उससे भ्रम उत्पन्न हो सकता है। कलात्मक कृतियों की रचना बंद नहीं हुई। इस क्षेत्र के कुछ अंगों में बहुत विकास हुआ। मुस्लिम शासक चित्रकारी के प्रेमी थे। उनके दरबारों में हिन्दू और मुसलमान चित्रकार बराबर आश्रय पाते थे। हिन्दू नरेशों ने भी इस कला को उत्साहित किया। इसी काल में चित्रकारी की कांगड़ा और राजस्थानी शैलियों का उदय हुआ। राजस्थानी शैली के स्वयं कई भेद थे, जिनका संबन्ध उन राज्यों से था जिनमें उनका विकास हुआ था। इस काल के चित्रों के विषय कुछ तो दरबारी होते थे, कुछ प्रकृतिपरक, परन्तु शृंगार का प्राधान्य था। या तो स्त्री पुरुषों की प्रणय चेष्टाओं का सीधे वर्णन होता था या राग-रागिनियों के चित्रण में। कृष्ण लीला के बहुत चित्र बने। यह चित्र कला की दृष्टि से बहुत सुन्दर हैं और हमारी अमूल्य सांस्कृतिक निधि हैं, परन्तु विषय की दृष्टि से इनमें से अधिकतर शृंगारमूलक ही हैं।

जिस काल में मन्दिरों और मूर्तियों के ध्वस्त होने की आशंका रहती हो, उन दिनों बड़े मन्दिर कहाँ बन सकते थे ? परन्तु एक बात निश्चय ही कुतूहल-जनक है। मूर्ति तोड़ने वालों के लिए हिन्दू और जैन एक से थे; परन्तु हिन्दुओं को यह सुविधा थी कि देश के कुछ भागों में हिन्दू नरेश थे। फिर भी जैन धर्मावलम्बियों ने विशाल और सुन्दर मन्दिर बनवाये। आबू और राणकपुर के जैन मन्दिरों की संगमर्मर पर खुदाई अपने ढंग की अद्वितीय है। हिन्दुओं का एक भी ऐसा मन्दिर नहीं है। मूर्तियों की भी वही दशा है। जैन मूर्तियाँ बहुत सुन्दर हैं, हिन्दू मूर्तियाँ बहुत ही भद्दी। मैं इस बात का कारण समझ नहीं पाता।

संगीत का भी बहुत विकास हुआ। खियाल शैली तो इस काल की देन है ही, कई राग-रागिनियों का सर्जन हुआ, नये वाद्य यंत्र भी निकले। मुस्लिम शासकों ने भी पुरानी भारतीय पद्धति को ही अपनाया।

इन बातों का सम्बन्ध मुख्यतया उत्तर भारत से है। उसको ही विदेशी आक्रमणों का सामना करना पड़ा। उस पर ही उनका भौतिक और नैतिक प्रभाव मुख्य रूप से पड़ा। दक्षिण भारत उन देशों से बहुत दूर पड़ता था जहाँ

से पठान और मुगल आते थे। अत वह बहुत कुछ सुरक्षित था। सुदूर दक्षिण मे स्वतत्र ब्राह्मणकार राज्य था। कुछ शतियो तक विजयनगर साम्राज्य का बोल-बाला था। पश्चिम मे महाराष्ट्र साम्राज्य का उदय हुआ। इसलिए दक्षिण भारत को राजनीतिक स्वाधीनता के सुख का भी अधिक अनुभव मिला, आध्यात्मिक दुर्गति भी नही देखनी पडी, मानस ग्लानि भी कम सहनी पडी। वहाँ साहित्य और कला का भी पर्य्याप्त प्रश्रय मिला। चरित्र मे उस प्रकार की गिरावट भी नही आने पायी। सच बात यह है कि हिन्दुत्व को दक्षिण भारत ने डूबने से बचा लिया।

परन्तु देश की अधिकतर जनता उत्तर भारत मे रहती है और उसका राजनीतिक तथा धाम्मिक महत्व अधिक है, पहिले भी था। साम्राज्य की राजधानी यही थी। उसका दबाव और प्रभाव समूचे देश पर पडता था। मुख्य तीर्थ यही थे, सारा देश यही से धाम्मिक प्रेरणा लेता था। उत्तर भारत की दशा का कुछ वर्णन हम कर चुके हैं। जो लोग इस प्रकार दलित हो गये हो, जो लज्जा खोकर अपनी आखो से अपने देवस्थानो, देव प्रतिमाओ और स्त्रियो की अप्रतिष्ठा देख रहे हो, उनमे आध्यात्मिकता और धाम्मिकता कहाँ हो सकती थी? दुर्बलो और कायरो मे सच्चा अध्यात्मभाव नही होता। उपनिषद् के शब्दो मे

नायमात्मा बलहीनेन लभ्य ।
'इस आत्मा को बल हीन नही प्राप्त कर सकता।'

ऐसी अवस्था मे हिन्दुत्व ने जो नया चोला बदला उस पर आश्चर्य नही होना। इस अधकार के काल के भक्ति मार्ग खुला, भक्तिवाद का उदय हुआ। यह वाद सर्वथा उस युग के अनुरूप था, इसलिए इसका प्रचार बडी शीघ्रता से हुआ। इस कथन का यह तात्पर्य्य नही है कि भक्ति सर्वथा नयी वस्तु थी। कुछ लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि हिन्दुओ ने भक्तितत्व को बाहर वालो से सीखा। ऐसा मानने का कोई कारण नही है। उपनिषद् का एक वाक्य है

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मन ॥

'जिनको ईश्वर के प्रति पराभक्ति है और जैसी भक्ति ईश्वर में है वैसी ही गुरु में है, उस महात्मा पर यह बताये हुए अर्थ प्रकाशित हो जाते हैं, अर्थात् वे गूढ़ विषय स्वतः समझ में आ जाते हैं।'

हमने नवें अध्याय में वेद मन्त्रों के कुछ अवतरण दिये हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि वेद में भी उपास्य उपासक के बीच के मधुर सम्बन्ध की चर्चा है। भक्तों में चार प्रकार के भाव प्रधान माने जाते हैं : वात्सल्य भाव, सेवक भाव, सखा भाव और दाम्पत्यभाव। सभी के उदाहरण वेद में दिये जा सकते हैं।

हमने कुछ दिये भी हैं। परन्तु पुराणोत्तर काल में भक्ति नाम से जिस वाङ्मय का सर्जन हुआ वह श्रुतिसम्मत मर्य्यादा को पार करके बहुत आगे बढ़ गया। किसी पराजित, दुर्बल, हतोत्साह समुदाय की आध्यात्मिक भावना का इससे बुरा चित्र मिलना कठिन है। भक्ति के नाम पर जितना रोना गाना हुआ है उतने वेद मन्त्र नहीं हैं। पर संख्या की तो बात अलग है, यह भक्ति साहित्य मनुष्य को उठाने की क्षमता रखता ही नहीं, उल्टे नीचे गिराता है।

वेद में मनुष्यों को अमृतस्य पुत्राः, अमृत की सन्तान, कहा गया है। पौराणिक काल में यह गर्वोक्ति है कि मनुष्यः कुरुते यत्तु तन्न शक्यं सुरासुरैः मनुष्य जो करता है उसे सुर और असुर नहीं कर सकते और अब यह उक्ति हो गयी है ·

पापोऽहं, पापकर्म्माऽहं, पापात्मा, पापसम्भवः

'मैं पापी हूँ, पापकर्मा हूँ, पापात्मा हूँ, पाप से उत्पन्न हुआ हूँ।' सोचने की बात है कि यह कैसा बड़ा अन्धेर है! कोई अपने को पापकर्म्मा कह ले परन्तु जो लोग जीव और ईश्वर को समानधर्म्मा मानते हैं वह पापात्मा कैसे हो सकते हैं? क्या ईश्वर पापात्मा है? अधिकांश हिन्दुओं का विवाह ब्राह्म-पद्धति से होता है जिसमें पदे पदे वेद मंत्र पढ़े जाते हैं और देवगण का साक्ष्य होता है। ऐसे विवाह से उत्पन्न सन्तति पापसम्भव कैसे हुई? क्या वेद पापकर्म्म का समर्थन करते हैं और देवगण पाप के साक्षी बन कर आते हैं? कितनी

नासमझी से भरा यह श्लोक है, धर्म के कितना विरुद्ध है, फिर भी बडे चाव से पढा जाता है। न जाने किस धर्मविमुख ने इसे बनाया है! जो अपने को पापात्मा कह सकता है उसे पतित कहलाने मे कोई आपत्ति नहीं हो सकती। उलटे सुविधा होती है। पतित का अर्थ है 'गिरा हुआ'। जो गिर गया है उसको उठाने का भार तो किसी दूसरे पर ही होगा। यह बोझ भगवान् पर टाल दिया गया। यज्ञ के लिए अरणि और उत्तरारणि नाम की दो लकडियो की रगड से आग पैदा की जाती है। इसी का रूपक बाँध कर वेद मे कहा गया है

आत्मानमरणिं कृत्वा, प्रणव चोत्तरारणिम।
ज्ञाननिर्मथनाभ्यासात, पाप दहति पूरुष ॥

'आत्मा को अरणि और ॐकार को उत्तरारणि बनाकर ज्ञान द्वारा मथन से जो आग उत्पन्न होती है उससे पुरुष अपने पाप को जलाता है।' नये युग मे स्वय कुछ करना ही नही रहा

मैं हरि पतितपावन सुने,
मैं पतित तुम पतितपावन, दोउ बानक बने ॥

भगवान पतित पावन हैं, यदि मुझे पावन, निष्पाप, नही बनाते तो उनकी साख जाती है, मेरा क्या? कहाँ वेद का यह कहना कि दुर्बल मनुष्य मोक्ष का अधिकारी नही होता, कहाँ अब डके की चोट अपने को दुर्बल कहा जाने लगा

सुनेरे मैंने दुर्बल के बल राम!

कहाँ वेद का आदेश था 'कृणुध्वम् विश्वमार्यम', सारे जगत् को आर्य बनाओ और कहाँ बडा से बडा महात्मा अपने नाम के आगे 'दास' जोडने मे गौरव समझ रहा था।

भगवान् से प्रार्थना अब भी की जाती थी परन्तु, पहिले से कितना अन्तर

पड गया ! वैदिक काल मे आर्य्य माँगता था 'अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्तु' —हमारे वीरो की जीत हो, अस्माकं या इषवः ता जयन्तु—हमारे जो शस्त्र है उनकी विजय हो। पौराणिक काल का हिन्दू भी कहता था :

रूपं देहि जयं देहि, यशो देहि, द्विषो जहि !

'रूप दो, जय दो, यश दो, शत्रुओ को जीतो।' वैदिक आर्य्य कहता था :

उतिष्ठत संनह्यध्वम् उदारा केतुभिः सह ।
सर्पा इतरजना रक्षांसि, अमित्राननुधावत ॥

'उठो, सन्नद्ध हो जाओ, अपने झंडे ऊँचे करो, जो दुष्ट, इतरजन, शत्रु है उनका पीछा करो।'

पर हिन्दू भक्त को इन बातों से कोई प्रयोजन नही था। भूमि तो वह दूसरो को सौप चुका था। उसके उद्धार की बात वह सोचता ही नही था। भले ही मन्दिर टूटे, देवमूर्तियो की अप्रतिष्ठा हो, गौएँ कटे, स्त्रियो का अपहरण हो। भक्त निश्चिन्त था, इन छोटी बातो की ओर ऑख उठाकर देखता भी नही था। आप भक्ति साहित्य उठाकर देख जाइये, बड़े बड़े भक्तराजो की रचनाओ का अध्ययन कीजिए परन्तु कही भी इन बातो का चर्चा न मिलेगा, भूल से भी भगवान् से यह न मॉगा गया होगा कि हमको शक्ति दो कि इन बातो को दूर करे, इस दुरवस्था का अन्त करे। चारों ओर आग लगी है तो लगी रहे। हम तालमृदग के शोर से आर्तो का क्रंद्रन दबा देगे पर अपने भगवान् की मीठी नींद न टूटने देगे। उपासना का ढंग तो बदल गया ही, वैदिक यज्ञ याग तो गये ही थे, योग रह गया था, अब वह भी गया। उसकी जगह 'भजन' ने ले लिया। पलायनवृत्ति का बोलबाला था।

भक्ति किसी की भी हो सकती है; परन्तु प्रकृत्या अधिकतर भक्त विष्णु के उपासक थे। परन्तु यह विष्णु वैदिक विष्णु तो नही ही थे, पौराणिक विष्णु भी नही रह गये ! राम की अपेक्षा उनके कृष्ण अवतार की ओर बहुत लोगों

का झुकाव होना था, कृष्ण साहित्य का कलेवर भी बहुत बडा है। पर यह कृष्ण महाभारत के, गीता के, कृष्ण नहीं हैं। यह वह कृष्ण हैं जो व्रज में राधा के साथ विहार करते हैं। ऐसा साहित्य दुर्बल चरित्र की जनता के लिए रोचक होता है, निम्न स्तर की वृत्तियों को जगाता है और अफीम की भाति उन प्राणों को भुला देता है जो कभी हृदय का टीस जाती हैं। उस समय के राजे महाराजे भी जो अपनी स्वतत्रता खोकर दूसरो की कठपुतली बने हुए थे ऐसी कविता को प्रोत्साहन देते थे। उनके कामोद्दीपन और सन्तपण का यह अच्छा साधन था। शान्त रस की आड में शृगार खेल रहा था। राधाकृष्ण के विहार के सन्दर्भ में बहुत कुछ कहा जा सकता था। गीतगोविन्द के रचयिता कवि जयदेव परम भक्त माने जाते हैं। कहते हैं कि श्रीकृष्ण इनके साथ साथ घूमते थे, अब भी जहाँ गीत गोविन्द के पद गाये जाते हैं वहाँ पहुँच जाते हैं। इन्ही महाकवि के आश्रयदाता वह राजा लक्ष्मण सेन थे जो यह समाचार मिलने पर कि बख्तियार खिल्जी थोडे से सवारो के साथ आ रहा है विशाल गौड राज्य और उसकी प्रजा को छोडकर आधी रात को महल से भाग गये। वह भी परम भक्त थे। गीतगोविन्द में एक पक्ति है

राधा माधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रह केलय

'यमुना के किनारे राधा और माधव की एकान्त केलियो की जय हो।' यह बहुत ही सयत भाषा है। इनसे भी खुले शब्दो में काम लीलाओं के वर्णन हैं। जिस मार्ग को ख्यातनामा भक्त लोगो ने प्रशस्त किया, उस पर चलना दूसरे कवियो के लिए सुकर हो गया।

इस काल में कृष्ण रूपी विष्णु का चरित्र बहुत नीचे गिराया गया। वह कामुक के रूप में सामने लाये गये, व्यसनी नरेश और धनी लोग भी 'कन्हैया' बनने लगे। इस गिरावट को देखिए कि कृष्ण का 'रणछोड', लडाई छोडकर भागने वाला नाम भी चल पडा। प्राचीन आर्य्य तो नही, पौराणिक काल का भारतीय भी इस नाम को सुनकर काँप उठता।

इस जमाने में विभीषण जैसे नराधम भी भक्तराज की पदवी पा गये।

वाल्मीकि रामायण के अनुसार जब वह राम से मिला तो पहिली बात जो उसके मुंह से निकली वह थी 'भवद्गतं हि मे राज्यम्'—मुझको राज्य मिलना आप के हाथ मे है। न धर्म्म का चर्चा, न मोक्ष का नाम, सीधे राज्य की भूख थी। रावण के मरने पर उसने क्रिया कर्म्म करने से यह कह कर इनकार कर दिया कि रावण मेरा शत्रु था। इस पर राम ने उसे यह कह कर डांटा : 'मरणान्तानि वैराणि'—शत्रुता मृत्यु पर समाप्त हो जाती है। और यह भ्रातृद्रोही, देशद्रोही, व्यक्ति भक्त शिरोमणि माना गया! बात तो यह है कि पातित्य के इस काल मे चरित्र का, मनुष्यता का, कोई मूल्य नही रह गया। यह बंगला कहावत चरितार्थ हो रही थी : 'माछेर झोल, नारीर कोल, बोल हरि बोल!' मत्स्यादि का भक्षण करो, स्त्री सेवन करो पर हरि, हरि कहते जाओ। नाभा जी का भक्तमाल प्रसिद्ध ग्रंथ है। उसमे दिये हुए भक्तो के चरित्र देखिए। यह कहना कठिन हो जायगा कि भक्त के नाम पर किया गया कोई भी काम निंद्य है या नही।

जो लोग गिरे थे, उनको इन बातों ने और गिराया। भक्ति से मोक्ष मिलता हो या न मिलता हो परन्तु धर्म्म का तो लोप सा हो गया। सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह नामशेष रह गये। विदेशी शासन मे तो झूठ और खुशामद से काम चलता ही है, अध्यात्म के क्षेत्र मे भी इन बातो का समावेश हो गया। भक्तमाल के एक चरित्रनायक जैन मन्दिर से सोना चुराकर भगवान् को चढाते हैं। भगवान् उनसे प्रसन्न होते है। यह व्यवहार साधारण सा हो गया। प्राचीन काल मे जब कोई अनुष्ठान करता था तो वह संकल्प करते समय कहता था :

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि, तच्छकेयं, तन्मे राध्यताम्

इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि—

'हे व्रतो के स्वामी अग्नि, मैं व्रत करने जा रहा हूँ, उसे सम्पन्न कीजिए, मुझे शक्ति दीजिए कि उसे कर सकूं, मैं अब झूठ छोड़कर सत्य को ग्रहण करता हूँ।' आज कोई ऐसी बात भी नही सोचता। न यजमान के ध्यान मे यह आता है, न पुरोहित उसको याद दिलाता है।

आजकल देश के बहुत से भागो मे सत्यनारायण की कथा को कहने सुनने का रिवाज है। यह वस्तुत चार कहानियो का सग्रह है जिनमे साधु वणिक् की कहानी मुख्य है। सब से लबी भी है। वह प्रतिज्ञा करके भी कई बार सत्य-नारायण की पूजा मे चूक जाता है और हरबार दड पाता है। परन्तु उसे जब दड मिलता है तब इसीलिए कि वचन देकर भी वह समय पर पूजा नही करता, और किसी बात के लिए नहीं। विदेश मे थोडे ही दिनो मे बहुत सा धन कमा कर लाया। व्यास का कथन है

नाहत्वा मत्स्यघातीव, नाकृत्वा कर्म्म दुष्करम् ।
नाच्छित्वापर मर्माणि, प्राप्नोति महतीं श्रियम ॥

'बिना मत्स्यघाती की भाँति दूसरो का हनन किये, बिना अकरणीय कामो को किये, बिना दूसरो के मम का छेदन किये, बहुत धन एकत्र नही हो सकता।' साधु ने भी यह सब किया होगा पर कोई पूछताछ न हुई। बस भगवान् का भाग देने मे देर न होनी चाहिए। यह तो उत्कोच, रिश्वत, सी बात हुई। समूची पुस्तक मे कही सत्य के लिए आग्रह नही है। ऐसे साहित्य और ऐसी पूजा पाठ का जो प्रभाव पड सकता है, वह स्पष्ट है, हमारे सामने प्रयत्क्ष है। अनैतिक से अनैतिक कामो के लिए कथा का सकल्प होता है, पूजन होता है और कोई यह नही कहता कि सत्यनारायण भगवान् कैसे अनैतिकता और झूठ का समथन कर सकते है। यह उपदेश वेद का है कि

सत्यमेव जयते नानृतम,
सत्येन पथा विततो देवयान

येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा,
यत्र तत् सत्यस्य परम निधान ॥

'सत्य की ही जीत होती है, झूठ की नही। सत्य से ही वह देवयान पथ बिछा हुआ है जिससे आप्तकाम ऋषि लोग उस स्थान पर पहुँचते हैं जहाँ सत्य का परम निधान है, जहाँ सत्यनारायण है।' कहाँ यह शिक्षा और कहाँ वह

पर्य्यावरण जो आज की प्रचलित कथाओं से बनता है। भगवान् भी रिश्वत खाने वाला बन गया !

मैंने ऊपर जो कुछ लिखा है उससे कुछ पाठकों को मनस्ताप हो सकता है। मेरा उद्देश्य किसी का जी दुखाना नहीं है। मैंने तो जो कुछ कहा है उसका आधार वस्तुस्थिति है। उत्तर भारत का भक्ति साहित्य सबके सामने है, इस काल का इतिहास भी सबके सामने है। उत्तर प्रदेश राम और कृष्ण का प्रदेश है, काशी, अयोध्या, प्रयाग, मथुरा और हरिद्वार का प्रदेश है, तुलसी और सूर और कबीर का प्रदेश है। कोई भी व्यक्ति अपने हृदय से पूछे कि यहां की भक्ति-रचनाओं ने लोगों को अन्याय और अत्याचार, अधर्म्म और उत्पीड़न का विरोध और प्रतिकार करने की कहां तक स्फूर्ति दी, कहां तक लोगों को आत्मबलि सिखलायी। इस प्रदेश के निवासी कायर नहीं होते, लड़ना जानते हैं; परन्तु उनके कानों में भक्तों के जो शब्द पड़े उनमें वह ओज नहीं था, जो रामदास और तुकाराम की वाणी मे था। उनको यही सिखाया गया कि जो कुछ आन पड़े उसे चुपचाप सह लो। जब 'कीट मरकट की नाई, सबहिं नचावत राम गुसाईं' तब अपने से हाथ पांव क्यों और कैसे चलाया जाय ?

कलियुगवाद ने दुर्बलता को और दृढ़ कर दिया। यदि कलियुग, काल के एक विभाग विशेष को कहते हों तो उसमे किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। परन्तु इस शिक्षा ने लोगों को पंगु बना दिया कि कलि बहुत बुरा काल है, इस मे सारी बुराइयाँ भरी हैं, धर्म्म का ह्रास अवश्यम्भावी है। ये बातें निराधार और प्रत्यक्ष विरुद्ध है परन्तु चित्तो मे धारणा बैठा ली गयी। आज का मनुष्य उन पुस्तकों को पढ़ता है जो प्राचीन काल के विद्वान लिख गये हैं और सहस्रो दूसरी पुस्तकें भी पढता है। उसने ऐसी विद्याओ के क्षेत्र में प्रवेश किया है जिनके नाम तक पहिले नही थे। ऋग्वेद काल मे मनुष्य की चरमायु सौ वर्ष थी—शतायुर्वै पुरुष—और आज भी उसी के लगभग है। वही वन, गिरि, सागर हैं। ऐसे कंकाल मिले हैं जो ५००० वर्ष पहिले के हैं अर्थात् कलियुग लगने से, पहिले के हैं। आज का मनुष्य उनसे छोटा नही है। किसी भी दृष्टि से यह समय ऐसा नहीं माना जा सकता कि बुरा है, धर्म्म के लिए अनुकूल नही है, तपश्चर्य्या के लिए उपयुक्त नही है। परन्तु ऐसी भ्रान्त धारणा लोगों के चित्त मे भर

दी गयी। उसने उनको और हतोत्साह कर दिया। बुद्धि से काम लेना बन्द हो गया। यह किसी ने नही सोचा कि कलियुग मे ही दक्षिण मे बलशाली महाराष्ट्र का हिन्दू साम्राज्य कैसे स्थापित हुआ। भक्तो ने यह तो पढाया कि दुर्बल के बल केवल राम हैं पर यह बताना भूल गये कि राम से कब किसको कहाँ बल मिला। सतयुग, त्रेता और द्वापर मे भूभार को हल्का करने के लिए अवतार हुए पर क्या कभी भी पृथिवी पर उतना भार था जितना उस समय पड रहा था? हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, रावण, कस, जरासध, दुर्योधन, इनमे से किसने कब मन्दिरो को ध्वस्त किया था, कब किसी को धर्मान्तर ग्रहण करने के लिए विवश किया था? उनको मारने के लिए स्वय विष्णु को अवतरित होना पडा। परन्तु वर्तमान काल मे क्रन्दन सुनने वाला कोई नही था। भक्तो ने न तो भगवान् से त्राहि त्राहि कहा न जनता का नेतृत्व अपने हाथ मे लिया।

किसी जैन ग्रथ मे एक सूत्र है 'जे कम्मे सूरा ते धम्म सूरा'। भक्तो ने उस सिद्धान्त को समझा ही नहीं जो इस सूत्र मे निहित है। जो कम्मसूर है वही धम्मसूर हो सकता है। श्रीकृष्ण का नाम लेते रहे, परन्तु कर्मयोग से दूर रहे। अपने अनुयाइयो को यह नहीं बतलाया कि चरित्र बल का स्थान बडा ऊँचा है, उनको यह नही सिखाया कि धर्म का आचरण, अन्याय और उत्पीडन का विरोध, जिस व्यक्ति मे नही है वह भगवद्दर्शन का अधिकारी नही है। परतत्र देश के हिन्दू को तो भक्ति का आडम्बर अच्छा लगा क्योकि बाहरी चेष्टाएँ भीतर की सुलगती आग को दबाये रहती हैं, परन्तु न तो उसके चरित्र का उन्नयन हुआ, न समाज का वातावरण शुद्ध हुआ, न सच्ची आध्यात्मिकता का प्रचार हुआ। हाँ, आत्मवचना का साधन नि सन्देह मिल गया। उपासक अपने अनुरूप ही अपने उपास्य को बना लेता है। पतित हिन्दू ने अपने साथ अपने भगवान् को भी नीचे गिरा दिया।

परिभाषा के अनुसार परानुरक्तिरीश्वरे, 'ईश्वर के प्रति परम अनुराग, का नाम भक्ति है। अनुराग अनुरागी और अनुरक्त को मिलाता है। माँ का बच्चे से अनुराग होता है। वह बच्चा में अपने को खो देती है। बच्चा ही उसका सर्वस्व है। बच्चे के सुख-दुख म उसका सुख-दुख है, बच्चे के लिए उसको अपने प्राणो का ममता नही होती। यही बात प्रणय मे होती है। प्रेमी और प्रेमिका

के बीच मे ऐसा ही तादात्म्य होता है। पर इस प्रकार के अनुराग में एक दोष होता है। जहाँ एक से तादात्म्य होता है वहाँ दूसरो से गहिरा पार्थक्य भी हो जाता है। माँ के लिए अपना बच्चा सब कुछ है, उसका अपना स्व है, साथ ही सारा विश्व अस्व है। बच्चे का हित एक ओर, सारा जगत् दूसरी ओर। यही अवस्था प्रणय मे होती है। परन्तु ईश्वर तो सर्वात्मा है। उसमे द्वैत है ही नही। ईश्वर के साथ अनुराग जब पराकाष्ठा को पहुँच जाता है, तो उससे तादात्म्य होता है। उस अवस्था मे सर्वात्मा से एकत्व प्राप्त होता है, अभेद की प्रतीति होती है, आत्मा के सच्चे स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। सच्ची भक्ति का यही स्वरूप और यही परिणाम है।

इस अवस्था की प्राप्ति के साधन क्या हैं ? ऐसा कहा जाता है कि भक्ति बहुत सरल है, सुकर है। यह बात ठीक नही है। कोई क्रिया तो हठात् भी की जा सकती है परन्तु भावनाओ के क्षेत्र में हठ से काम नही चलता। किसी से जबरदस्ती प्रेम नहीं किया जा सकता। अस्तु, भक्ति के सम्बन्ध मे विशाल साहित्य है। उसमे से कुछ बहुत थोड़े से वाक्य उद्धृत किये जा सकते हैं पर उनसे भक्ति के साधनो का स्वरूप समझ मे आ सकता है। श्रीमद्भागवत के यह श्लोक प्रसिद्ध है :

> श्रवणं कीर्तनं विष्णोः, स्मरणं पादसेवनम् ।
> अर्चनं वन्दनं दास्यम्, सख्यमात्म निवेदनम् ॥

'विष्णु का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन, इनको ही नवधा भक्ति कहते हैं।'

नारदपञ्चरात्र मे प्रेमभक्ति का यह लक्षण दिया है :

> अनन्यममताविष्णौ , ममता प्रेम संगता
> भक्तिरित्युच्यते भीष्म, प्रह्लादोद्धवनारदैः ॥

'हे भीष्म, प्रह्लाद, उद्धव और नारद विष्णु के प्रति अनन्य ममता, प्रेमपूर्ण ममता, को भक्ति कहते हैं।'

यदि विचार से देखा जाय तो भक्ति का समावेश योग मे पूर्ण-रूपेण हो जाता है। योग दर्शन मे पतंजलि ने ईश्वर प्रणिधान को समाधि के प्रधान साधना मे परिगणित किया है। 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' सूत्र मे ईश्वर के नाम के जप की प्रशंसा की गयी है। उन्होने ईश्वर के सबसे पवित्र और उत्कृष्ट नाम प्रणव 'ओंकार' के जप का विधान किया है पर उनका किसी एक वस्तु के लिए आग्रह नही है। 'वीतराग विषयम वा चित्तम्' मे स्पष्ट ही कहा है कि बुद्ध, तीर्थंकर, राम, कृष्ण, स्वगुरु, जो कोई वीतराग व्यक्ति प्रतीत हो, उस पर चित्त को स्थिर करने से समाधि हो सकती है। 'यथाभिमतध्यानादवा' कहकर तो पूरी ही स्वतंत्रता दे दी गयी है। जो भी ध्यान अपने को रुचिकर प्रतीत हो, धनुर्धर राम हो, चाहे वंशीधर कृष्ण हो, उसी मे चित्त लगाना श्रेयस्कर होगा। जिस मधुर भावना का भक्ति साहित्य मे चर्चा होता है वह चित्त को स्थिर करने मे सहायक होती है। दाम्पत्य सूत्र के समान दूसरा कोई बंधन सुदृढ और कोमल नही होता। ईश्वर से ऐसा सम्बन्ध जोडना योगियो को भी अभीष्ट है, जितनी ही लगन तीव्र होगी, उतनी ही त्वरा मे अभीष्ट की सिद्धि होगी। तीव्रसवेगा नामासन्न तीव्र संवेग वालो को समाधि प्राप्त होती है। मेरी दृढ धारणा है कि चाहे किन्ही शब्दो से काम लिया जाय, भक्ति का भी लक्ष्य समाधि है और जो बडे भक्त हो गये है वे सब योगी थे।

भक्ति के आचार्यों से मुझे यह शिकायत नही है कि उन्होने राम, कृष्ण को धारणा का साधन बनाया। शिकायत यह है कि उन्होने चरित्र की महत्ता की ओर ध्यान नही दिया। सब लोग योगी नही हो सकते, भक्त नही हो सकते, पर भक्ति की नकल कर सकते हैं। ऐसे दम्भियो को भक्ति के नाम पर अनय करने का अवसर मिल गया। हर मनुष्य न तो चक्र चला सकता है, न अँगुली पर पहाड उठा सकता है, पर स्त्रियो के बीच मे रास और केलि कर सकता है। भक्ति के आचार्यों ने इस बात की ओर ध्यान नही दिया कि मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की भावना से चित्त शुद्ध होता है। उन्होंने यह उपदेश नही दिया कि जो धर्म के मार्ग पर नही चलता, जो अन्याय और अत्याचार का खुलकर सामना नही करता, वह अर्जुन से बार-बार तस्माद्युद्धस्व भारत—'हे अर्जुन, इसलिए तुम लडो' कहने वाले कृष्ण का कदापि कृपापात्र नहीं बन सकता। उन्होने अतिशयोक्ति के नशे मे लक्ष्य को भी नीचे गिरा दिया। सहस्रो वर्षों से यह कहा जाता रहा है

कि मनुष्य जीवन का सवसे वड़ा लक्ष्य मोक्ष है और मोक्ष ब्रह्मज्ञान से होता है। भक्ति के आचार्य्यों ने इस लक्ष्य की ओर से भी दृष्टि हटा दी। यहाँ तक कह दिया गया कि :

ब्रह्मानन्दो भवेदेष, चेत् परार्द्धगुणी कृतः ।
नैति भक्तिसुखाम्भोधेः परमाणुतुलामपि ॥

'यदि कई करोड ब्रह्मानन्द प्राप्त हो तो, वह भी भक्तिसुखसागर के परमाणु के वरावर भी नही होता।' भक्त के सामने मोक्ष से भी वडा कोई लक्ष्य रख दिया गया, यह लक्ष्य लोक कल्याण नही, केवल एक प्रकार का नशा था। जो साहित्य सामने आया उसने भी उन्नयन मे, ऊपर उठने मे, सहायता नही दी। नम्रता, अद्वेष, स्थिर वुद्धि, ये सव अच्छी वातें हैं परन्तु अकर्म्मण्यता वुरी चीज है। शृगार को अध्यात्म के क्षेत्र मे लाने की सीमा का निरकुश उल्लघन हुआ। मैंने ऊपर गीतगोविन्द का चर्चा किया है। कोई चाहे तो उसके हर वाक्य को रूपक मानकर जीव और ब्रह्म के सम्वन्ध के आवार पर कथा गढ दे, पर कितने व्यक्ति स्वच्छन्द रूप से ऐसा कर सकते हैं? सीवी मादी कामकलाप की वाते है। हिन्दू वर्म मे तप का संस्कार चला आता था, वह दूर हो गया। इस दुर्वलता लाने वाले वातावरण मे सव कुछ कौडियो के मोल विक गया।

कहाँ तो वेद कहता है :

तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते, विष्णोर्यत्परमं पदम् ।
। १, २२, २१ ।

'विष्णु का जो वह परम पद है उसको जागरणशील, तपस्वी, इन्द्रिय-निग्रह करने वाले विद्वान्, मेधावी देखते हैं!'

और कहाँ आज कल अमुक एकादशी को व्रत रहने से, तोते को राम राम पढ़ाने से, विष्णु से भेट होती है। योग शब्द सहस्रो वर्षो से चला आता था, उसको छोड़ कर भजन कहा जाने लगा। इसने दुर्वलता को और दृढ़ कर दिया।

एक और बात इस ह्रास में सहायक हो गयी। प्राचीन काल से यह परम्परा चली आती थी कि धर्मोपदेश देने वाला श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ होना चाहिए। श्रोत्रिय शास्त्रवेत्ता होने से जिज्ञासु की शंकाओं का निराकरण कर सकता है और ब्रह्मनिष्ठ आध्यात्मिक अनुभूति का मार्ग दिखा सकता है। इस काल में श्रोत्रियता और ब्रह्मनिष्ठता में खाई पड़ गयी। एक ओर पंडितों का समुदाय था जो पुस्तकों को पढ़ते थे, शब्दार्थ करना जानते थे परन्तु प्रायः आत्मतत्त्व अनुभूति से दूर थे। केवल पाण्डित्य लोगों के लिए आकर्षक नहीं हो सकता था। दूसरी ओर साधु-समुदाय था जो शास्त्रों से अनभिज्ञ था। ऐसे लोग तर्क से दूर रहते थे और अपने शिष्यों से मूढ़वत् श्रद्धा की प्रतीक्षा करते थे। इस विभाजन का यह परिणाम हुआ कि धर्म और दुर्बल हो गया। धार्मिक विश्वास के लिए तर्कसम्मत आधार नहीं रह गया, उसका एकमात्र सहारा अन्ध विश्वास था। ऊपरी ढांचा अवशिष्ट था, ठठरी बच गयी थी, प्राण निकल चुका था। स्फूर्ति देने की शक्ति कब की जा चुकी थी।

तुलसीदास जी की रामायण ने मुर्दा रगों में प्राण का कुछ संचार किया था। अतीत के गौरव की कुछ स्मृति जागी थी। परन्तु कोई धर्माचार्य उसका लाभ न उठा सका। रामलीला धार्मिक तमाशा बनकर रह गयी और रामायण पाठ करने की पुस्तक मात्र।

इस युग में तो देव परिवार में कुछ वृद्धि हुई परन्तु गणेश और हनुमान जैसा कोई नया व्यक्तित्व नहीं आया। किसी विशेष संस्कार के द्वारा दूसरों को हिन्दू बनाने का चलन तो नहीं था परन्तु नये समुदाय हिन्दू बनते रहे हैं। इस की प्रणाली सीधी और अर्ध-सभ्य जातियाँ ज्यों-ज्यों सभ्यता की ओर बढ़ती हैं त्यों त्यों वह हिन्दू होती जाती है। कुछ हिन्दू देव देवियों की पूजा होने लगती है, कुछ हिन्दू त्योहार मनाने लगते हैं, कोई न कोई ब्राह्मण पुरोहित आ जाता है और उनके विवाहादि संस्कारों में वेद मंत्रों का उच्चारण करके उनको हिन्दू रूप दे देता है। कुछ की नई वंशावलियाँ बन जाती हैं और उनका सम्बन्ध किसी देव देवी से जुड़ जाता है। गऊ को पूज्य मानने लगते हैं। इस प्रकार वे थोड़े दिनों में हिन्दू हो जाते हैं। उनके कुछ पुराने उपास्य तो हिन्दू देव देवियों में मिल जाते हैं। जैसे, कोई भी देवी हो, वह काली का रूपान्तर बन सकती है। परन्तु अब इस

प्रकार नही खपते। वे ज्यों के त्यों रह जाते है। उनकी पूजा बराबर होती रहती है। परन्तु देव परिवार के ये नये सदस्य केवल स्थानीय महत्त्व रखते हैं। सारे देश मे इनकी ख्याति नही होती। नये उपास्यों की यत्र तत्र सृष्टि होती रहती है। अभी पिछले चालीस पचास वर्षों के भीतर छोटा नागपुर की ओर ऐसा ही हुआ है। वहाँ किन्ही जगलस्थित गाँवो मे किसी सक्रामक रोग का प्रकोप हुआ। एक दिन किसी को स्वप्न हुआ कि अमुक अमुक प्रकार की मूर्ति स्थापित करके पूजा करो, रोग शान्त हो जायगा। मूर्ति बनी, रोग भी शान्त हो ही गया, आज गांव गांव मे वैसी पूजा होती है। एक ऊंचे डीलडौल का पुरुष किसी प्रकार का कोट पतलून पहिने और सिर पर हैट दिये, उसकी बगल मे एक महिला अग्रेज स्त्रियों जैसा वस्त्र पहिने। इन युगल मूर्ति को साहिब साहिबा कहते है।

इस्लाम ने भी उपास्यो की सूची मे वृद्धि की। हसन हुसेन के ताजियों को पूजने वालो मे हिन्दू थे। पीर फकीरो की कब्रो पर हिन्दू मन्नत मानते थे। यह बाते कम हुई हैं पर अब भी हैं। यह सब होता था परन्तु हँसी और दुख की बात यह थी कि जो धर्म्मगुरु थे वह खडे-खड़े तमाशा देख रहे थे। पंडित वर्ग, पुजारी, पुरोहित यह देखते थे कि जनता इस्लामी व्यक्तियो की पूजा कर रही है पर वे रोकने का यत्न नही करते थे। फलत धार्म्मिक अव्यवस्था और भी बढ़ती गयी।

इसका एक उदाहरण देता हूँ जिससे इस अव्यवस्था और पतन की पराकाष्ठा का पता चलता है। महमूद गजनवी के मरने के कुछ दिन बाद उसके कुछ सरदारो ने मिलकर भारत पर आक्रमण किया। इस बार उन्होने एक ऐसे भूभाग को लक्ष्य बनाया जहाँ महमूद नही पहुँच सका था। श्रावस्ती और उसके आसपास के प्रदेश के निवासियों और उनके मन्दिरो की सम्पन्नता की ख्याति दूर-दूर तक थी। उत्तर प्रदेश के वर्तमान बाराबकी, गोंडा और बहराइच के जिले इसी मे पड़ते थे।

आक्रामक सेना के प्रधान सेनानी सैयद सालार मसऊद थे। मारे जाने पर इनके नाम के आगे 'गाज़ी' विशेषण जुड़ गया।

उस क्षेत्र के हिन्दू राजा का नाम सुहेल देव था। कहा जाता है कि वह जैन धर्मावलम्बी और अहिंसा के व्रती थे। पहिले तो वह तटस्थ बैठे रहे परन्तु जब पठानों के बढ़ते अत्याचारों के समाचार आने लगे तो तटस्थता असह्य हो उठी। वह युद्ध में उतरे। कई छोटी लड़ाइयों के बाद मसऊद की मुख्य सेना का सामना हुआ। तीन दिन तक युद्ध चला। मसऊद मारा गया। उसकी सारी सेना तितर बितर हो गयी।

बहराइच में बालाक नाम से प्रसिद्ध विशाल सूर्य्य मन्दिर था। कहा जाता है कि सुहेलदेव के देहान्त के १००—१५० वर्ष बाद फीरोज तुगलक के शासन-काल में यह मन्दिर तोड़ा गया और इसकी जगह मजार बन गया।

यह तो सब ऐतिहासिक घटनाएँ हैं। जो हुआ वह हुआ। पर सबसे आश्चर्य्य की बात यह है कि यह सैयद सालार पुजने लगे और इनकी पूजा करने वालों में लाखों हिन्दू थे। उनकी प्रसिद्धि गाजी मियाँ के नाम से हुई। इतना ही नहीं, बालाक के नाम का एक टुकड़ा उनके नाम के साथ जुड़ गया और वह बाले मियाँ कहलाने लगे। गोंडा के राजा दत्तसिंह और अलाउल खाँ से लड़ाई हुई थी जिसमें अलाउल खाँ ने अपनी सेना के आगे कुछ गउओं को कर दिया था कि राजपूत तीर न चला सकें। यह कथा भी गाजी के साथ चिपक गई पर इसका रूप बदल गया। ऐसा माना जाने लगा कि उन्होंने गौओं की गुहार में, गौओं की रक्षा के लिए, प्राण दिये। बस हिन्दुओं के लिए उनकी पूजा का एक सहारा मिल गया। प्रायः समाज के निम्न स्तर के लोग ही इस पूजा में सम्मिलित होते थे पर थे तो वह भी हिन्दू ही। अब बहुत कम हिन्दू गाजी मियाँ को पूजते हैं परन्तु सैकड़ों वर्षों तक बाले मियाँ गोरखनाथ के रूप में पूजे गये।

इस काल की धार्म्मिक अवस्था का वर्णन करने के लिए ईश्वर के सम्बन्ध में भी कुछ चर्चा करना आवश्यक है। हम पहिले अध्यायों में देख आये हैं कि वैदिक और पौराणिक काल में इस देश के आध्यात्मिक वातावरण में ईश्वर या परमात्मा का क्या स्थान था। पुराणोत्तर काल में उस स्थान में परिवर्तन हुआ।

परमात्मा के स्वरूप और जीवात्मा के साथ उसके सम्बन्ध के विषय में विद्वानों में मतभेद है, अद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद और विभिन्न प्रकार के द्वैतवादों में इसके बारे में मतवैषम्य है। परन्तु इतना तो निश्चित है कि किसी भी वाद द्वारा स्वीकृत स्वरूप सेमेटिक ईश्वर से नहीं मिलता अर्थात् उस रूप से नहीं मिलता जो यहूदी, इस्लाम और ईसाई सम्प्रदायों को मान्य है। इसका कारण यह है कि हमारे सभी वादों को कर्म्म सिद्धान्त मान्य है। ऐसी दशा में ईश्वर न तो स्वेच्छया जगत् की सृष्टि कर सकता है, न संहार। हम जगत् के विकास और संकोच के संबंध में पहिले विचार कर चुके हैं। जीवों के प्राक्तन कर्म्मों के अनुसार ही जगत् की उत्पत्ति और लय का खेल निरन्तर होता रहता है। ईश्वर अधिक से अधिक आरम्भक हो सकता है। जिस प्रकार चुम्बक के सान्निध्य में लोहे के टुकड़े अपने को उत्तर दक्षिण दिशा में डाल देते हैं वैसे ही ईश्वर के सान्निध्य में जगत् के अवयव जो नित्य है अपने को यथावत् सजा लेते हैं। किसी कर्म्म के लिए न तो अनन्त पुरस्कार मिल सकता है, न अनन्त दंड। इसलिए ईश्वर किसी को न तो अनन्तकाल के लिए स्वर्ग में रख सकता है, न नरक में। बिना कर्म्मों के संस्कारों के क्षय हुए किसी को मोक्ष नहीं मिल सकता, ईश्वर अपनी ओर से किसी के अपराधों को क्षमा नहीं कर सकता।

यह परमात्मा का शास्त्रीय रूप है परन्तु व्यवहार में आज कुछ और ही देख पड़ता है। निरक्षर से लेकर सुपठित तक इस प्रकार बात करते हैं जैसे उनके मत में लोगों का दुख सुख सब ईश्वर की देन है, उसने अपनी इच्छा मात्र से लीला के रूप में जगत् को बनाया है, वह जो चाहे कर सकता है। संस्कृत का विद्वान् भी ऐसी ही बात कहता है। यद्यपि वह जानता है कि यदि कर्म्म सिद्धान्त सच है तो ईश्वर पर यह सारा दायित्व नहीं डाला जा सकता, फिर भी कहता है कि ईश्वर कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः है 'चाहे करे, चाहे न करे, चाहे अन्यथा करे।' ईश्वर के सम्बन्ध में यह मतपरिवर्तन दो कारणों से हुआ है।

इस्लाम ने भारत में ईश्वर का जो स्वरूप लाया वह ईश्वर के भारतीय स्वरूप से बहुत भिन्न था। परन्तु इस्लाम विजयी था। यह साधारण दस्तूर है कि विजित विजेता की भौतिक शक्ति से पराजित होने के बाद उसके विश्वासों

और धारणाओं से भी क्रमशः अभिभूत हो जाता है। हिन्दू परमात्मा साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च था 'वह इस जगत् रूपी तमाशे का साक्षी था।' तुलसीदास जी के शब्दों में, 'जग पेखन तुम देखन हारे'। उसके हाथ कर्म सिद्धान्त से, ऋत और सत्य के सनातन नियमों से, बँधे हुए थे। उधर इस्लामी ईश्वर जगत् का स्रष्टा, सहर्ता, विधाता था। जीवों को ईश्वर ने बनाया था, उनके कर्मों का प्रश्न ही नहीं उठता था। परिणाम यह हुआ कि हिन्दू ईश्वर ने भी इस्लामी ईश्वर का रंग लिया। भक्तों ने भी उसे बल दिया। स्वयं तो अपंग थे, दुर्बल थे, कम-से-कम समझते ऐसा ही थे। उनको एकमात्र भरोसा ईश्वर का था। फलतः ईश्वर में ऐसे गुणों का आरोप हुआ जो उसमें पहिले नहीं थे। परमात्मा शब्द में दार्शनिक ध्वनियाँ हैं, ईश्वर शब्द शक्ति, पौरुष, अधिकार, का द्योतक है। परमात्मा अनन्त शक्तियों से सम्पन्न ईश्वर बन गया। पुराने ग्रंथों में चाहे जो लिखा हो परन्तु लोक व्यवहार में ईश्वर और खुदा के बीच की खाई पट गई। उसने अपने नये अधिकारों से काम भी लिए। यहाँ तो :

जन्म कोटि मुनि जतन कराहीं,
अंत राम कहि आवत नाहीं।

और यहाँ तोता को पढ़ाते समय एक बार नारायण कह देने से गणिका तर गयी। भक्तों का ऐसा ही विश्वास है।

ईश्वर की शक्ति बढ़ी, अधिकार बढ़ा, परन्तु कर्म सिद्धान्त पर से विश्वास उठा नहीं। शताब्दियों ने इस विश्वास को हिन्दू के हृदय पर अंकित कर दिया था। इससे दुःखानिकर में सान्त्वना मिलती थी, आगे के लिए आशा बंधती थी। नए ईश्वर और पुरातन कर्मवाद का सभी एक साथ ले चलना कठिन हो सकता है।

तुलसीदास जी एक जगह कहते हैं

होइहि सोइ जो राम रचि राखा,
को करि तर्क बढ़ावइ साखा।

परन्तु दूसरी जगह वही लिखते हैं :

कर्म्म प्रधान विश्व करि राखा,
जो जस कीन्ह सो तस फल चाखा।

यह दोनो बातें एक साथ कैसे ठीक हो सकती है? यदि राम ने सब कुछ पहिले से रच रखा है तब तर्क करना सचमुच व्यर्थ है। परन्तु फिर कर्म्म के लिए क्या स्थान रहता है? एक अन्य स्थान पर उन्होंने लिखा है :

सबहि नचावत राम गुसाईं !

यदि यह बात यथार्थ है तो मनुष्य से राम गुसाईं ही सत्कर्म्म और दुष्कर्म कराते है, फिर जीव को पुरस्कार और दड देने का क्या अर्थ होगा? यदि खेल हमारी इच्छा के अनुकूल न हुआ तो कठपुतली अपराधी मानी जायगी या उसको नचाने वाला? लोग दोनो, प्रकार की बाते पढते हैं, सुनते हैं, कभी कभी विरोध का आभास होता ही होगा परन्तु विवेक बुद्धि को दबाकर किसी न किसी प्रकार चित्त को समझा लेते है। अधिकतर मनुष्य समझाने का यत्न भी नही करते। गाने बजाने मे मस्तिष्क की उलझन को दबाये रखते है, उसे सोचने का अवसर ही नही देते।

इस नयी परिस्थिति मे आस्तिक नास्तिक शब्दों के अर्थों मे वह परिवर्तन हुआ जिसकी ओर पहिले सकेत किया जा चुका है। अब इन शब्दो का सम्बन्ध वेद पर आस्था रखने से नही रह गया है। ईश्वर की सत्ता और अनंत शक्ति पर विश्वास करने वाला आस्तिक, ऐसा न माननेवाला नास्तिक कहलाता है। अब ये शब्द केवल वर्णनात्मक नही रह गये है, इनमे प्रशसा और निन्दा की ध्वनि मिल गयी है। किसी को आस्तिक कहना उसकी प्रशसा, नास्तिक कहना निंदा करना है।

इस जमाने मे जब कि चारो ओर गिरावट फैली हुई थी, कुछ योगी सम्प्रदाय सामने आये। उन्होने अपना गौरव निबाहा, हिन्दू समाज के गौरव

को भी बढाया। एक सम्प्रदाय तो नाथो का था जिसमें मत्स्येन्द्र नाथ, गोरक्षनाथ और भर्तृहरि के नाम सारे देश में प्रसिद्ध हैं। ये लोग शैव थे। योग और भय अनमिल पदार्थ हैं। नाथ पंथियो को छेडने का साहस प्राय मुस्लिम शासको को नही हुआ।

नाथो के उदय के कुछ शतियों बाद सन्तमत आगे आया। इसको सबसे पहिले कबीर ने बढाया। इस पंथ के कई भेद हो गये हैं परन्तु कबीर, रैदास, नानक, दादू, दरिया, पल्टू जैसे महात्माओं के नाम सर्वत्र आदर के साथ लिये जाते हैं। इन पर चतुर्दिक व्याप्त वैष्णव वातावरण का इतना प्रभाव तो पड़ा था कि ये लोग ईश्वर के लिए बहुधा राम, नारायण, गोविन्द जैसे नामो का व्यवहार करते थे और अपनी उपासना शैली को भी बहुधा भजन कहते थे। परन्तु थे यह वस्तुत योगाभ्यासी। इनकी उपासना शैली का मूल यह उपनिषद् वाक्य है

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति, तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति,
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति, तत्तेपद संग्रहेण ब्रवीमि, ओऽमित्येतत्।

'जिस पद का चर्चा सब वेद करते हैं, सब तपस्वी जिसका उपदेश करते हैं, जिसकी इच्छा करके ब्रह्मचर्य्य का पालन करते हैं, वह पद तुमसे संक्षेप मे कहता हूँ, वह ॐ है।'

इन लोगो के यहाँ देव देवियो के पूजन का तो प्रश्न नही उठता। खुलकर मूर्ति पूजा की निन्दा की गई है पर उतनी ही कडी निन्दा इस्लाम की भी की गयी है। यह उस समय के भयभीत हिन्दुओ के लिए तो बहुत बडी बात थी। कबीर को दिल्ली के बादशाह इब्राहीम लोदी ने सताना भी चाहा पर उससे कुछ करते न बना। हार खानी पडी। सन्त मत की ही उस शाखा ने जिसका प्रचार नानक ने पंजाब मे किया था, सिक्ख धर्म का रूप ग्रहण किया और पंजाब से इस्लामी शासन की जड खोद डाली।

उत्तर भारत के दैनंदिन संघर्ष से दूर दक्षिण भारत मे हिन्दुओं की स्थिति

अच्छी थी। वह उतने नहीं गिरे थे। राजनीतिक दृष्टि से भी गिर उठाने का अधिक अवसर था। वहाँ के सन्त महात्माओं तथा ब्राह्मणों के उपदेश भी अधिक तेजस्वी थे। ज्ञानेश्वर योगी थे, उनके उपदेश तो अभयवर्द्धक होते ही, रामदास और तुकाराम वैष्णव थे। रामदास की तो पुकार ही होती थी 'जय जय रघुवीर समर्थ', परन्तु इन्ही लोगों के आशीर्वाद और प्रेरणा ने शिवाजी के हृदय और हाथ को बल दिया और महाराष्ट्र के साम्राज्य की नींव डाली।

तेरहवाँ अध्याय

वर्त्तमान काल

इस अध्याय की दृष्टि से मैं पिछले डेढ़ सौ वर्षों को, वर्तमान काल मे गिनता हूँ। इस अवधि मे देश ने बहुत से उतार चढाव देखे हैं। सच तो यह है कि जितने व्यापक और गम्भीर परिवर्तन इस बीच में हुए उतने इससे पहिले की कई शताब्दियो मे नहीं हुए थे।

मुग़ल साम्राज्य के समाप्त होने पर एक बार तो ऐसा लगता था कि उसकी जगह सारे देश मे मराठा साम्राज्य स्थापित हो जायगा परन्तु मराठो की अदूरदर्शिता ने उनको वह पद प्राप्त न करने दिया। एक ओर तो उनको अंग्रेजो से लडना था, दूसरी ओर उनका आपसी कलह शक्ति का क्षय करता था और तीसरी ओर उन्होने राजपूतो को शत्रु बना रखा था। उनका साम्राज्यस्वप्न मूर्त न हो सका और उनको अंग्रेजो का आधिपत्य स्वीकार करना पडा। पजाब मे महाराजा रणजीत सिह ने सिक्ख राज्य स्थापित किया था, उनके देहान्त के बाद वह भी थोडे ही दिनो मे समाप्त हो गया। सारा भारत, रणजीत सिह जी के शब्दो में, लाल हो गया। अंग्रेज इस विशाल देश के असपत्न स्वामी हो गये। एक बार १८५७ म विदेशी सत्ता को दूर हटाने का प्रयास हुआ परन्तु उसका प्राय सारा भार उत्तर प्रदेश के कन्धो पर आ पडा। शेष प्रदेश तमाशा देखते रहे। यह प्रयास निष्फल गया और कुछ दिनो के लिए तो ऐसा प्रतीत हुआ कि अंग्रेजो के विरुद्ध किसी का सिर उठाने का साहस होगा ही नही। पर वे दिन भी गये। राजनीतिक हलचल फिर आरम्भ हुई। धीरे धीरे उसमे तीव्रता आती गयी। त्याग, दाक्ष्य और आत्मबलि के अवसर आये। लोगों ने प्राणो की

वाज़ियाँ लगायीं और एक दिन वह आया जब महात्मा गान्धी के नेतृत्व में देश पुनः स्वतंत्र हुआ।

स्वाधीनता संग्राम मे भाग लेने से निश्चय ही लोगो के चरित्र का उन्नयन हुआ, त्याग और शौर्य्य की सुपुप्त प्रवृत्ति उद्बुद्ध हुई, आत्मनिर्भरता आयी। अभी तक विदेशी शासन काल के कुछ संस्कार अवशिष्ट हैं, परन्तु स्वतंत्र भारत का निवासी बहुत दिनों तक अपने को दीन हीन नही समझ सकता।

इस बीच में धार्म्मिक क्षेत्र मे भी कम उथल-पुथल नही हुआ। अँग्रेजी शासन के फलस्वरूप ईसाई धर्म का रोब छा गया। शिक्षित भारतवासी अपनी सामाजिक रीतियो और धार्म्मिक रूढियो पर लज्जित होने लगा। प्रतिक्रिया स्वरूप कुछ धार्म्मिक आन्दोलन आरम्भ हुए जिनमे ब्रह्म समाज प्रमुख था। इस पर ईसाई धर्म्म की पूरी छाप थी, यद्यपि कुछ तत्त्वो को उपनिषदों से भी ले लिया गया था। न इसमे यज्ञ याग की जगह थी, न देवो की पूजा की। प्रार्थना रूप में ईश्वरोपासना की जाती थी। ब्रह्म समाज के ढंग पर ही पश्चिम भारत मे प्रार्थना समाज की स्थापना हुई। जनता के आध्यात्मिक जीवन पर इन संस्थाओं का गम्भीर प्रभाव नही पड़ा।

इस कमी की आर्य्य समाज ने बहुत दूर तक पूर्ति की। उसके प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे। आर्य्य समाज ने वेद को एकमात्र प्रमाण के रूप मे स्वीकार किया और पुराणों का सर्वथा बहिष्कार किया। उसने देवो की पृथक् सत्ता को मानना अवैदिक ठहराया। लाखों मनुष्यो ने आर्य्य समाज की सदस्यता स्वीकार की है। उसने वेदो पर श्रद्धा जगाकर और सामाजिक कुरीतियो का कठोर विरोध करके हिन्दू समाज की बड़ी सेवा की है। दूसरे धर्म्मो के अनुयाइयो के आक्षेपों का उत्तर देकर तथा अन्य मतो के दोषो को प्रत्यापित करके समाज ने हिन्दुओ को आत्मविश्वास की बहुमूल्य दीक्षा दी।

उन्ही दिनो थियोसोफिकल सोसायटी का उदय हुआ। इसके संस्थापको मे मादाम ब्लावात्स्की और कर्नल आल्काट जैसे ख्यातनामा विदेशी थे। इनके

बाद नेतृत्व स्वनामधन्या श्रीमती एनी बेसेण्ट के हाथ मे आया। सोसायटी के सदस्य योग को महत्त्व देते थे और हिमालय के गुप्त तपोवनो मे रहनेवाले महात्माओ की चर्चा करते थे। उन्होने देव देवियो के अस्तित्व की साग्रह पुष्टि की और बहुत सी पौराणिक कथाओ का समर्थन किया। इन बातो ने भारत के शिक्षित जगत् को बहुत प्रभावित किया। विदेशियो की भारत की प्राचीन मान्यताओ पर ऐसी अटूट श्रद्धा देखकर भारतीयो को स्वय उन पर श्रद्धा हो चली और आत्म विश्वास जागा। श्रीमती बेसेण्ट ने भारत के राजनीतिक जीवन मे भी भाग लिया था। सोसायटी के प्रयत्नो से वाराणसी मे वह हिन्दू कालिज स्थापित हुआ था जो आज हिन्दू विश्वविद्यालय के रूप मे हमारे सामने है।

वर्तमान काल मे भारत के आध्यात्मिक आकाश को जिन नक्षत्रो ने ज्योतिर्मय बनाया उनमे रामकृष्ण परमहस का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने उनका सन्देश विदेशो तक पहुचाया। उनके प्रवचनो ने श्रोताओ को मन्त्रमुग्ध कर दिया। भारतीय धार्मिक उपदेशो से पाश्चात्य देशवालो को प्रभावित होते देखकर यहा भी लोगो की अपने धर्म पर श्रद्धा बढी। यद्यपि परमहस देव और उनके शिष्यो की शिक्षा मुख्यत वेदान्तमूलक रही है परन्तु उसने भी देव देवियो की सत्ता का समर्थन किया। स्वय परमहस देव शक्ति के उच्च कोटि के उपासक थे।

इन सब विचारधाराओ का हिन्दू पर प्रभाव पडना अवश्यम्भावी था। हिन्दू धर्म के प्रति घृणा का भाव तो जाता रहा, ईसाई धर्म में दीक्षित होने की प्रवृत्ति भी जाती रही, परन्तु धार्मिक भावना मे ह्रास ही हुआ। मुस्लिम शासन काल मे शासन की ओर से जो धार्मिक छेड छाड होती रहती थी उसके कारण हिन्दू मे कट्टरता आ गयी थी। अग्रेज शासक धार्मिक विचारो और आचारो की ओर उपेक्षा की नीति बरतते थे। हिन्दू की धर्मनिष्ठा न तो आध्यात्मिक अनुभूति पर आधारित थी, न तर्क पर। प्रत्यक्ष विरोध के अभाव मे आप से आप ढीली हो गयी। पाश्चात्य शिक्षा ने उसकी जड को और खोखली बना दिया। देश मे प्रचण्ड सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन हो रहे थे परन्तु धर्मगुरुओ ने काल की गतिविधि को नहीं पहिचाना, या तो काल प्रवाह का व्यर्थ विरोध किया या तटस्थ बैठे रहे। समाज का नेतृत्व उनके हाथ से निकल गया। आज

का शिक्षित, हिन्दू धर्म्म पर आस्था नही रखता। उसके जीवन में श्रद्धा का कोई पात्र नही है, श्रद्धा के लिए कोई स्थान नही है, यदि चित्त मे शंका उठती है, जिज्ञासा जागती है, तो कोई मार्ग दिखाने वाला नही है। वेपतवार की नाव की भाँति वह विचारो के थपेड़े खाता रहता है, इधर उधर भटकता रहता है और अन्त में या तो घोर भौतिकता का आश्रय लेता है या विचार करना ही छोड़ देता है। अपने को अब भी हिन्दू कहता जाता है परन्तु यह शब्द उनके हृदय में किसी गम्भीर भावना को स्पन्दित नही करता। उसके लिए धर्म्म आलोक-हीन, उद्देश्यहीन, शब्दाडम्बर मात्र है।

आज मनुष्य मात्र के सामने विज्ञान की प्रगति ने कुछ बड़े प्रश्न उपस्थित कर दिये हैं। उसने मनुष्य को अभूतपूर्व शक्ति प्रदान की है और शान्ति तथा सम्पन्नता का द्वार खोल दिया है। परन्तु ऐसा लगता है कि मनुष्य अपने को सँभाल नही पा रहा है, उसमें वह बुद्धि नहीं है जिसके सहारे इस शक्ति से काम लिया जा सकता है। राग-द्वेष के अंकुश में काम करने वाला मानव पृथ्वी का संहार कर सकता है। उसने ऋत को तो कुछ कुछ जाना है परन्तु सत्य से बहुत दूर है। विज्ञान ने उसको मदान्ध कर रखा है और वह अपनी तर्कशक्ति और प्रकृति पर अपनी विजय मे इतना दृप्त हो गया है कि श्रद्धा खो बैठा है, परमात्मा और परादेवता को निरर्थक कल्पना मानने लगा है। परन्तु आज भी समझदार लोग हैं जो उसको चेतावनी देते हैं। विज्ञान के प्रकाड पडितो में ऐसे महापुरुष हैं जिनमे ज्ञानानुरूप नम्रता है, जो विज्ञान की सीमाओं से परिचित है, जिनको विज्ञान किसी अनिर्वचनीय तत्व और चेतना के किसी अतीन्द्रिय स्रोत का सन्देश देता प्रतीत होता है। देखना यह है कि मनुष्य इनकी बात सुनता है या नहीं।

जो समस्या सारे जगत् की है वह भारत की भी है, भारतवासी हिन्दू की भी है। उसको भौतिकता अपनी ओर खीचती है, धर्म्म कृत्रिम और थोथा प्रतीत होता है, पश्चिम की भौतिक उन्नति आँखों में चकाचौध उत्पन्न करती है। उसके राजनीतिक नेता भी उसको कोई दूसरा मार्ग नही बताते। दूसरी ओर उसकी सहस्रों वर्ष पुरानी संस्कृति है, हृदय मे बैठे हुए संस्कार है, उसके देश का वाङ्मय है, कला है। भौतिकवाद गम्भीर संकट के समय संबल नहीं देता, मानसिक व्यथा मे सांत्वना नही देता। द्विविधा मे पड़ा मानव दया और सहानुभूति

का पात्र होता है। अगत्या ऐसी अवस्था में चित्त उन लोगों की ओर आकृष्ट होता है जो विज्ञान और आध्यात्मिकता के समन्वयका उपदेश देते हैं। यह समन्वय निगमसिद्ध है। विज्ञान और अध्यात्म दोनों का आधार सत्य है और सत्य, सत्य का विरोधी नहीं हो सकता।

भारत या भारत के बाहर से जो स्वर अध्यात्मवाद के पक्ष में उठते हैं उनमें दर्शन की ही ध्वनि सुन पड़ती है। यह भी इस समय स्वाभाविक है। परन्तु कोरे दर्शन में भी भ्रमस्थल है। दर्शन में एक प्रकार का नशा होता है। वह तत्व सबन्धी ज्ञान देता है, तत्त्व का साक्षात्कार नहीं कराता। साक्षात्कार तो साधना से ही होता है। ऐसी आशा करनी चाहिए कि वह दिन भी दूर नहीं है जब इस ओर भी ध्यान जायगा।

मैं नहीं कह सकता कि भविष्यत् में उपासना का क्या रूप होगा। इतना तो विश्वास होता है कि आगामी काल का हिन्दू दुर्बलता के ऊपर उठ चुका होगा। वह अपने उपास्य के सामने भिक्षुक के समान हाथ बाँधकर न खड़ा होगा। विज्ञान ने उस देवताओं का कुछ परिचय दिया है। वह यह शिक्षा तो ग्रहण कर चुका होगा कि स्वार्थभाव विनाश का साधन है, मनुष्यमात्र के कल्याण में अपना भी कल्याण है। त्याग ही भाग का हेतु है, कर्त्तव्य ही मनुष्य का धर्म्म है अधिकारों के पीछे दौड़ना मायामृग का पीछा करना है। ऐसे मनुष्य का आचरण देवगण का भी अभिमुख करेगा, उनका भी सख्य और उनकी भी सहायता प्राप्त होगी और वह न केवल अपने जीवन को सार्थक कर सकेगा परन्तु वेद की इस आज्ञा का भी पालन कर सकेगा

कृणुध्वम् विश्वमार्य्यम् !

मुख्य सहायक पुस्तकों की सूची

१ ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका—स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत

२ सर्वे आव संस्कृत लिटरचर—श्री कुन्हन राजा कृत

३ दि वेदिक एज—(प्रधान सम्पादक) श्री आर० सी० मजमदार

४ हिन्दू सिविलिजेशन—आर० के० मुकर्जी कृत

५ लिविंग रेलिजस आव दि वर्ल्ड—फ्रेडेरिक स्पीगेल्वर्ग

६ ऐन हिस्टारिकल ऐप्राच टु रलिजन—आर्नल्ड टॉयनबी कृत

७ दि ओरिजिंस ऐण्ड हिस्टरी आव रेलिजस—जान मर्फी कृत

उपर्युक्त पुस्तकों से तो स्थल विशेषों पर सहायता ली गयी है परन्तु वैदिक वाङ्मय, मुख्यतया ऋग्वेद संहिता, अथर्ववेद संहिता, और शतपथ ब्राह्मण का आश्रय तो पदे पदे लेना पड़ा है। इसी प्रकार, श्रीमद्भागवत, देवी भागवत, लिंग पुराण, मार्कण्डेय पुराण तथा श्री अक्षयकुमार बनर्जी कृत 'दि फिलासोफी आव गोरखनाथ,' से प्रचुर मात्रा में सहायता ली गयी है।

शब्दानुक्रमणिका